संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

(तृतीय भाग)

❧❧

युधिष्ठिर मीमांसक

ओ३म्

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

[तीन भागों में पूर्ण]

तृतीय भाग

[यह तृतीय भाग प्रथम बार छपा है]

—युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
युधिष्ठिर मीमांसक
बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)

	संस्करण	प्रकाशन-काल	पृष्ठ-संख्या	परिवर्धन
प्रथम भाग—				
	अधूरा मुद्रण	सं० २००४	३००	लाहौर में नष्ट
	प्रथम संस्करण	सं० २००७	४५७	१५० पृष्ट
	द्वितीय संस्करण	सं० २०२०	५८२	१२५ पृष्ठ
	तृतीय संस्करण	सं० २०३०	६४०	५८ पृष्ठ
द्वितीय भाग—				
	प्रथम संस्करण	सं० २०१९	४०६	
	द्वितीय संस्करण	सं० २०३०	४५६	५० पृष्ठ
तृतीय भाग—				
	प्रथम संस्करण	सं० २०३०		

मूल्य—
प्रथम भाग—२५-००
द्वितीय भाग—२०-००
तृतीय भाग—१५-००

मुद्रक—
सुरेन्द्रकुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)

भूमिका

सं० २००७ में 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का प्रथम भाग छपा था। उसके लगभग १२ वर्ष पीछे सं० २०१९ में द्वितीय भाग का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। सं० २०२० में जब प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण छपा, उस समय इस ग्रन्थ से सम्बद्ध अवशिष्ट विषयों की पूर्ति के लिए तृतीय भाग की आवश्यकता का अनुभव हुआ। तृतीय भाग में दी जाने वाली सामग्री की उसमें संक्षिप्त सूची भी प्रकाशित की, परन्तु विविध कार्यों में व्यासक्त होने तथा आर्थिक परिस्थिति के कारण इतने सुदीर्घ काल में भी मैं तृतीय भाग का प्रकाशन न कर सका। उक्त कमी को अब दस वर्ष पश्चात् पूरा किया जा रहा है।

व्याकरण-शास्त्र के इतिहास का विषय दो भागों में पूर्ण हो गया। इस भाग में व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में यत्र तत्र निर्दिष्ट २-३ दुर्लभ लघु ग्रन्थ, पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिक व्याख्या, नागोजि भट्ट तथा अनन्त शर्मा पर्यालोचित अष्टाध्यायी का सूत्रपाठ (दुर्लभ हस्तलेख), अष्टाध्यायी के पाठान्तर आदि का निर्देश प्रमुख रूप से किया है।

दोनों भागों के नवीन संस्करणों में यत्र-तत्र पूर्व प्रकाशन के पश्चात् उपलब्ध सामग्री का यथास्थान निवेश कर दिया था। पुनरपि शोधकार्य कभी पूर्ण नहीं होता। नित्य नई सामग्री उपलब्ध होती रहती है। अतः दोनों भागों के नवीन संस्करण के पश्चात् नूतन उपलब्ध आवश्यक सामग्री का 'संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन' परिशिष्ट में सन्निवेश किया है। इसी प्रकार हमने अपने ग्रन्थ में सर्वत्र भर्तृहरि विरचित महाभाष्यदीपिका के जहां भी उद्धरण दिये हैं, वहां हमने अपने हस्तलेख की पृष्ठसंख्या दी थी, क्योंकि उस समय उक्त ग्रन्थ छपा नहीं था। महाभाष्यदीपिका का मुद्रण हो जाने के पश्चात् यह आवश्यक था कि दोनों भागों में दिये गये महाभाष्यदीपिका के पाठ मुद्रित ग्रन्थ में किस पृष्ठ पर कहां है, इसका निर्देश किया जाये। इसकी पूर्ति भी आठवें परिशिष्ट में की गई है।

दोनों भागों के पूर्व संस्करणों में ग्रन्थ में उद्धृत ग्रन्थ, ग्रन्थकार वा विशिष्ट व्यक्तियों के नामों की सूची देना आवश्यक था। इसके विना शोध-कार्य करनेवालों को महती असुविधा होती थी। इस भाग में उक्त सूचियां देकर इस ग्रन्थ की महती कमी को पूरा कर दिया है।

इस प्रकार इस भाग के साथ हमारा ग्रन्थ पूर्ण होता है।

तीनों भागों में उद्धृत ग्रन्थ, ग्रन्थकार वा व्यक्ति विशेषों के नामों की सूची बनाने का जटिल एवं समयसाध्य कार्य रामलाल कपूर ट्रस्ट के द्वारा संचालित 'पाणिनीय विद्यालय' के आचार्य श्री पं० विजयपाल जी व्याकरणाचार्य विद्यावारिधि ने किया है। यदि वे इस कार्य को करना स्वीकार न करते, तो सम्भव है इस संस्करण में भी यह कमी रह जाती। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा करके आपने जो सहयोग दिया है, इसके लिए मैं आपका आभारी हूं।

इसी प्रकार प्रूफ संशोधन का जटिल कार्य रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस के संशोधक श्री पं० महेन्द्र शास्त्री जी ने किया है। इसके लिए मैं आप का धन्यवाद करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

इसके साथ ही रायसाहब श्री चौधरी प्रतापसिंह जी (करनाल) ने भी इस भाग के प्रकाशन में जो अप्रत्यक्ष सहयोग दिया है। उसके लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हूं।

रामलाल कपूर ट्रस्ट	भाद्र पूर्णिमा	**विदुषां वशंवदः—**
बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा)	सं० २०३०	**युधिष्ठिर मीमांसक**

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

विषय-सूची

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

तृतीय भाग

विशेष संशोधन

(भाग २ का)

१. पृष्ठ ७६, पं० १६—**'अभिसन्धिर्वञ्चनार्थ इति धातुसंग्रहः।'** पंक्ति इसी पृष्ठ की पहली पंक्ति **'जगद्धर का काल……'** से पूर्व पढ़ें। मुद्रण में भूल से अस्थान में छप गई है। इसका सम्बन्ध पृष्ठ ७८ पं० २५ 'टीका में किया है—' के साथ है।

२. **पृष्ठ ८५, पं० २६,२७—'संभवतः हेमचन्द्राचार्य ने…… अनुकृति पर रखा है'** दो पंक्तियां पृष्ठ २६, पं० ११ **'इति। पुरुष-कार १११।'** के आगे पढ़ें। मुद्रणदोष से ये दो पंक्तियां अस्थान में छप गई हैं।

ओ३म्

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

[परिशिष्टसंग्रहात्मक तृतीय भाग]

पहला परिशिष्ट

अपाणिनीय-प्रमाणता

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में 'संस्कृत-भाषा की प्रवृत्ति, विकास और ह्रास' का सप्रमाण विशद उपन्यास किया है। व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करते समय संस्कृत-भाषा की विपुलता और उसके उत्तरोत्तर ह्रास का परिज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा आधुनिक वैयाकरणों के द्वारा कल्पित **'अपाणिनीयत्वाद् अप्रमाणम् अपशब्दो वा, यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्'** आदि विविध नियमों के चक्कर में पड़कर शास्त्रतत्त्व तक पहुंचना दुष्कर हो जाता है। इसीलिये हमने उक्त प्रकरण में १८ प्रकार के प्रमाण उपस्थित करके यह सिद्ध किया है कि अति पुराकाल में संस्कृत-भाषा अतिविशाल थी, मानवों के मतिमान्द्यादि कारणों से वह उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होकर भगवान् पाणिनि के समय अत्यन्त संकुचित हो गई थी। भगवान् पाणिनि ने यथासम्भव स्वसमय में अवशिष्ट भाषा के व्याकरण का प्रवचन किया।

प्राचीन आर्षवाङ्मय में बहुधा तथा अर्वाचीन वाङ्मय में क्वचित् ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते। आधुनिक वैयाकरण इस प्रकार के अपाणिनीय प्रयोगों को असाधु=अपशब्द मानते हैं। परन्तु यह मन्तव्य शास्त्र-सम्मत नहीं है, यह हमने प्रथम अध्याय में विस्तार से दर्शाया है। इस प्रसङ्ग में हमने (भाग १, पृष्ठ ४३) भट्ट नारायणकृत **'अपाणिनीय-प्रमाणता'** का निर्देश किया है। यह निबन्ध 'त्रिवन्द्रम्' में छपा था,

सम्प्रति अलभ्य है। पुस्तक का लेखक आधुनिक धुरन्धर वैयाकरण है। इस कारण प्रस्तुत निबन्ध की महत्ता को देखते हुए हम उसे नीचे प्रकाशित कर रहे हैं—

प्रक्रियासर्वस्वकार-नारायणभट्टकृता

अपाणिनीय-प्रमाणता

सुदर्शनसमालम्बी सोऽहं नारायणोऽधुना।
वैनतेय ! भवत्पक्षमाक्रम्य स्थातुमारभे[1] ॥१॥

तत्रायं संग्रहः—

"पाणिन्युक्तं प्रमाणं, न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिसूत्रम्";
केऽप्याहुस्तल्लघिष्ठं, न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्;
बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्, पाणिनेः प्राक् कथं वा;
पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति, विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः ॥२॥

अत्र तावद् इन्द्रचन्द्रकाशकृत्स्न्यापिशलिशाकटायनादिपुरातनाचार्यविरचितानां व्याकरणानामप्रमाणत्वमेव; मुनित्रयोक्तस्यैव तु प्रामाण्यमिति केचित् पण्डितमन्या मन्यन्ते। तद् अपहसनीयमेव; चन्द्रादिवचसामनाप्तप्रणीतत्वाभावेन प्रामाण्यनिश्चयात्। पुरुषवचसामप्रामाण्यं तावद् अनाप्तप्रणीतत्वहेतुकमेवेति चन्द्रादिशास्त्राणामप्रामाण्यं वदद्भिस्तेषामनाप्तत्वे प्रमाणं वक्तव्यम्। तत्र तेषामनाप्तत्वं तावत् प्रत्यक्षतो न लक्ष्यते। चन्द्रादिवाक्यमप्रमाणम्; शिष्टानङ्गीकृतत्वात्; अवैदिकवाक्यवत्—इत्यनुमानमत्र प्रसरीसर्ति इति चेत् तत्र शिष्टानङ्गीकृतत्वमसिद्धमेव। तथा हि—के नामात्र शिष्टा व्यपदिष्टाः ? किं वैदिका एव; उत साधुशब्दव्यवहारिणः ? उत ये केचिद् भवदभीष्टा वा ?

---

१. सुदर्शनम् = सच्छास्त्रमिति च। वैनतेय इति कश्चित् पण्डितः। तस्य 'अपाणिनीयमप्रमाणम्' इति मतं निराकर्तुमेव नारायणभट्टेन प्रबन्धोऽयं लिखितः। नारायणः सोऽहम् = नारायणीयस्तोत्र-प्रक्रियासर्वस्वादीनां कर्त्ता ॥

तत्राद्ये तावत् परमवैदिकानां वेदव्यासादीनां मुनित्रयालक्षितबहुपदप्रयोगदर्शनात् । **'दृष्ट्वा बहुव्याकरणं मुनिना भारतं कृतम्'** – इति चोक्तत्वात्, **शङ्कराचार्याणामपि प्रपञ्चसारादिषु** **'हुनेद्'** इत्यादि मुनित्रयानुक्तपदप्रयोगात्; वैदिकोत्तमानां च **मुरारिमिश्र-सुरेश्वराचार्यादीनां** **विश्रामादि**-शब्दप्रयोगात्, वैदिकवीरस्य **नैषधकारस्य** **'नैवाल्पमेधसि पटोरुचिमत्त्वमस्य'**—इत्यादि प्रयोगात्, वैदिकस्थापकानां **'विद्यारण्याचार्याणां'** **'धातुवृत्तौ'** **'कथापयति'** इत्यादौ **शाकटायनादिमताङ्गीकारात्,** **बोप्पदेव-कौमुदीकारादीनां**[1] च वैदिकवराणामपाणिनीयानेकशब्दप्रदर्शनदर्शनात्, इदानीमप्युत्तरदेशस्थैर्वैदिकश्रेष्ठैः **सारस्वतादिव्याकरणानां** प्रमाणीकरणात्, **कौमुद्याश्च** सर्वदेशपरिगृहीतत्वात्, पाणिनीयोत्पत्तेः प्राग्भवैश्च वैदिकैः व्याकरणान्तराणामेवाङ्गीकृतत्वात्, पाणिनीयव्यतिरिक्तच्छान्दसलक्षणानां **प्रातिशाख्यानां** युष्माभिरङ्गीकृतत्वाच्च व्याकरणान्तराणां शिष्टाङ्गीकृतत्वं स्पष्टतरमेव ॥

ननु **व्यासाद्यृषिवचसां** छान्दसत्वेन सिद्धत्वात् तत्सिद्धये कुतो व्याकरणान्तराङ्गीकारः ? **'दृष्ट्वा बहुव्याकरणम्'** इत्यस्य च, एकमेव व्याकरणं बहुशो दृष्ट्वा इत्यर्थः—इति चेत्, तन्न, मुनित्रयानुक्तच्छान्दसपदसमर्थनार्थं छान्दसलक्षणतयापि व्याकरणान्तराणां तैरादरणीयत्वात्, 'बहुव्याकरण'मित्यस्य क्लिष्टार्थकल्पनानुपपत्तेः । ननु **'व्यत्ययो बहुलम्**[2]' **'बहुलं छन्दसि**[3]' **'सर्वे विधयः छन्दसि विकल्प्यन्ते**[4]' इति सूत्रवार्तिकवचनादेव सिद्धेः व्याकरणान्तरं नान्वेष्यमिति चेत् तर्हि एतैरेव वचनैः कृतार्थौ **पाणिनिकात्यायनौ** छान्दसविषयशेषग्रन्थिकत्थायां किमर्थं परिक्लिष्टौ ? तस्माद् **व्यासाद्युक्तावपि** विशेषलक्षणव्याकरणान्तरं लभ्यमेव ।

न च प्रातिशाख्यलभ्यमिति वाच्यम्; तेषामपि व्याकरणान्तरत्वेन भवदुक्तिविरोधित्वात् । ननु **प्रातिशाख्यानि** असाधारणव्याकरणान्येव, साधारणव्याकरणान्तराणामेव च प्रामाण्यमस्माकम

---

१. कौमुदीकारशब्देनेह प्रक्रियाकौमुदीकृदिहाभिप्रेतः । कौमुदीशब्देनेह सर्वत्र प्रक्रियाकौमुदी ग्राह्या । २. अष्टा० ३।१।८५॥

३. अष्टा० २ । ४ । ७३, ७६ इत्यादि बहुत्र ।

४. महाभाष्य १ । ४ । ९ ॥

निष्टम् इति चेन्न, अपाणिनीयत्वसाम्येऽपि असाधारणव्याकरणानामिष्टत्वे साधारणेषु विद्वेषे च निमित्ताभावात्। पाणिनीयस्य नियमपरत्वात् तत्सदृशेषु अन्येषु प्रद्वेष इति तु पश्चान्निराकरिष्यते। यत्तु—'अपशब्दास्त्रयो माघे' इत्यारभ्य 'व्यासस्तन्त्रतां गतः' इति, तदपि गुरुलघ्वोः ग-ल-शब्दोक्तिवत्, नामैकदेशेन नामग्रहणादपशब्दा इति अपाणिनीयशब्दा इति व्याचक्षते महान्तः। उक्तं च—

"अष्टादशपुराणानि नव व्याकरणानि च।
निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारतं कृतम्॥" इति।

"यान्युज्जहार भगवान् व्यासो व्याकरणाम्बुधेः।
तानि किं पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे?" ॥ इति च।

ननु छान्दसानाम् अच्छान्दसत्वेन प्रयोगादेव व्यासस्य व्याकरणानभियुक्तत्वमिति चेत्—मैव सर्वज्ञं व्यासं प्रत्यमङ्गलं वचः। एवञ्च पाणिनेरपि व्याकरणानभियुक्तत्वं स्याद् इति स्वगलच्छेदकमेवेदं भवतो वचनम्। सोऽपि हि **'वृद्धिरादैच्'**[1] इति कुत्वाभावं छान्दसमेव प्रयुक्तवान् इति **'कुत्वं कस्मान्न भवति'** इत्यादिना भाष्यजालेन भाष्यते इत्यास्तां तावत्। एतेन 'साधुशब्दव्यवहारित्वं शिष्टत्वम्' इति च निरस्तम्। किञ्च, शिष्टव्यवहृतानामेव साधुत्वम् साधुशब्दव्यवहारिणामेव शिष्टत्वम् इति परस्पराश्रयोऽपि प्रसज्येत। शिष्टप्रयुक्तानामेव साधुत्वमिति च व्याकरणमीमांसायामविवादमिति।

एव तृतीयपक्षोऽपि अदीयान्। 'मुनित्रयमतमात्राङ्गीकारिण एव शिष्टाः' इत्यत्र श्रुतिस्मृतिवचनाभावेन भवत्कपोलमात्रकल्पितत्वात्। मुनित्रयवचनस्यैव प्रामाण्यात् तदङ्गीकारिणामेव शिष्टत्वमिति चेत् कर्हिचित् प्रामाण्यवशात् तदङ्गीकारिणां शिष्टत्वम्, शिष्टाङ्गीकृतत्वाच्च प्रामाण्यम्—इत्यन्योन्याश्रयलाभ एव धन्यात्मनाम्। अथ ये केचिदेव भवदभीष्टाः शिष्टा इति चेत्—ये केचिद् अस्मदभीष्टा इति दुर्युवित-युक्त एवायं वादकलहः स्यात्। तदिदमुक्तम्—

"न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्" इति।

बहुविदां **व्यासशङ्करादीनां** निर्मूलपदप्रयोगाभावात् तन्मूलतया

---

१. अष्टा० १।१।१॥

व्याकरणान्तराणां तैरङ्गीकृतत्वात्, शिष्टाङ्गीकृतत्वहेतुरसिद्ध एवेति भावः। शब्दश्च वैदिको वा मन्वादिकथितो वा न व्याकरणान्तराणामप्रामाण्यबोधको दृश्यते। न च मुनित्रयवचनं तदनुसारि ग्रन्थान्तरं वा पुनरितरप्रामाण्यप्रतिक्षेपकं साक्षादीक्षामहे।

यत्तु क्वचिद् '**विश्रामा**'दीनामयुक्तत्वभाषणम्, तल्लक्षणान्तरदर्शनेन प्रयोक्तव्यम्, इत्येतावत्परम्। अन्यथा सर्वदैव मुनित्रयवचननिबद्धादराणां **मुरारी**दीनां तत्प्रयोगानुपपत्तेः।

किञ्च, मुनित्रयतदनुसारिवचसां प्रामाण्यातिशये सिद्ध एव तैरन्यशास्त्राणां बाधः, अन्यशास्त्राणाम् एतद्बाध्यत्वेन दौर्बल्यातिशये सिद्ध एव च एतद्वचसां प्रामाण्यातिशयसिद्धिः, इत्यन्योन्याश्रयेणैव हन्यन्ते महान्तः। मुनित्रयवचनादेव मुनित्रयवचनप्राबल्यसिद्धिरिति स्वाश्रयमपि प्रसक्तमेव। न च "**पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः**"[1] इतिवत् मुनित्रयवचनेन 'एत एव साधुशब्दाः' इति नियमितत्वाद् अन्येषामप्रामाण्यमिति वाच्यम्। '**आबादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः**'—इत्यादेः तत्र तत्र वर्णनात्, आकृतिगणादिपरिग्रहाच्च नियमाभावस्य स्पष्टत्वात्। अन्यथा **पाणिनिकात्यायनाभ्यामेत** एव साधव इति नियमनाद् भाष्यकारकृतेष्टयादिवचनमप्रमाणं स्यात्। पाणिनिनियमितत्वाद्वा कात्यायनवचनान्यपि बाध्येरन्।

ननु पतञ्जलेः सर्वोत्कृष्टत्वात् तद्वचनबाधाभावाय व्याकरणान्तरमपि प्राप्तम्। मुनित्रयवचनस्य नियमपरत्वे छान्दससूत्रैरेत एव साधुशब्दा इति नियमितत्वात् **प्रातिशाख्या**न्यपि प्रत्याख्येयानि स्युः।

ननु मुनित्रयवचने वेदविशेषलक्षणानिरीक्षणात् सामान्यलक्षणपराणि व्याकरणान्तराणि एव तेन व्यावर्त्यन्ते; न वेदविशेषलक्षणपराणि प्रातिशाख्यानि इति चेन्न—'**सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे**'[2] '**यजुष्युरः**'[3] '**देवसुम्नयोर्यजुषि काठके**'[4] '**सामसु**' '**इकः प्लुतपूर्वस्य सवर्णदीर्घबाधनार्थं यणादेशो वक्तव्यः**'[6] इत्यादि वेदविशेषलक्षणानामपि स्पष्टं दृष्ट-

---

१. रामा० किष्किन्धा १८। ३६॥ तु० बोधा० प्रश्न १, अ० ५, सू० १५२। २. अष्टा० १।१।१६॥

३. अष्टा० ६।१।११३॥ ४. अष्टा० ७।४।३८॥

५. द्र०—'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' अ० १।२।३४॥

६. द्र०—महाभाष्य ८।२।१०८॥ इह वार्त्तिकाभिप्रायस्यार्थतोऽनुवादः।

त्वात्। न च, **'दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति'**[1] इति वचनात्, छान्दसेषु न नियमः प्रवर्तते, इति वाच्यम्। शास्त्रसाकल्यस्य नियमपरत्वे तदन्तर्गतछान्दसेऽपि नियमस्य दुर्वारत्वात्। **'शिष्टप्रयोगानुसारि व्याकरणम्'** इति तत्र तत्र दर्शनेन, लौकिकेष्वपि शिष्टानुविधि-साम्याच्च। तस्माद् आकृतिगणादिभिः सावशेषे शास्त्रे एतेषामेव शब्दानां प्रयोगे धर्मो भवतीति नियन्तुमशक्यत्वात्, 'एतत्प्रकाराणां साधुशब्दानां प्रयोगे धर्मः, तदितरापशब्दप्रयोगे तु अधर्मः' इत्येतावदेव नियमपरत्वं वक्तव्यम्। अत एव तद्धितप्रकरणे **'शिष्टप्रयोगतोऽनुगन्तव्यम्'** इत्यस्मिन्नर्थे **वृत्तिकारेण**[2] उक्ते **पदमञ्जरीकृदाह**[2]—

'किमर्थं तर्हि व्याकरणमिति चेदुच्यते— व्याकरणोक्तान् शब्दान् विदित्वा तत्सम्यग्व्यवहारिणः पुरुषान् दृष्ट्वा शिष्टा एते इत्यवगम्य तत्प्रयुक्तमन्यदपि ग्राह्यतया ज्ञातुं शिष्टपरिज्ञानार्थं व्याकरणमिति।' अतो नियमपरत्व परास्तम्। किञ्च, अत्र भाष्यादिगिरा तदुक्तेः ऽप्राबल्यमित्येवमुदीर्यते चेत् ततो मदुक्तवशात् मदुक्तिः प्रमाणमित्येव वचो लघीयः। तत्सिद्धम् अपौरुषेयः पौरुषेयो वा शब्दो न व्याकरणान्तराणामप्रामाण्यं बोधयतीति। तदिदमुक्तम्—

'न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्' इति।

बहुविदां भाष्यकारादीनां निर्मूलं शास्त्रान्तराप्रामाण्यकथनं स्ववचनप्राबल्यवचनं वा स्वाश्रयाभिभावान्न सम्भवतीति भावः। अत्र क्वचित् परशास्त्रदूषणमस्ति चेदपि युक्तिरसमात्रेणैव इत्यवगन्तव्यम्।

किञ्च, **'असिद्धवदत्राभाद्'**[3] इत्यादिपरःशतानि सूत्राणि भाष्य-निरस्तान्यपि न त्यज्यन्ते। तद् वस्तुपरशास्त्रम् इति। ननु, बह्वङ्गीकारान्यथानुपपत्त्या मुनित्रयवचसामेव प्रामाण्यम्, अन्यशास्त्राणामप्रामाण्यमपि सिद्धम् इत्यर्थापत्तिरेवात्र प्रमाणम् इति चेत्—तदपि न, सुग्रहत्वपरिमितत्वादिगुणातिशयवशादेव बह्वङ्गीकारविशेषणस्य

१. महा० १ । १ । ६ ॥

२. अत्र पठितं वृत्तिकृद्वचनं पदमञ्जरीकृद्व्याख्यानं च तद्धितप्रकरणे नोपलभ्यते। पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अ० ६।३।१०८) इत्यस्य सूत्रस्य वृत्तौ पदमञ्जर्यां चायमभिप्रायो वर्ण्यते।

३. अष्टा. ६ । ४ । २२ ॥

उपपत्तेः। तद्वशादन्येषामप्रामाण्यस्य साधयितुमशक्यत्वात्। अन्यथा तर्कग्रन्थेषु **मणिरेव**[1] बह्वङ्गीकृत इति **'कुसुमाञ्जलि-किरणावलि-**[2]**पक्षिलभाष्यादीनि** अप्रमाणानि भवेयुः।

शब्दशास्त्रेऽपि **कय्यटटीका** बह्वङ्गीकृतेति भर्तृहरिटीकाद्यप्रमाणं स्यात्। स्मृतिष्वपि **मानवादीनां** पुराणेष्वपि **भागवतादीनां,** शिक्षासु च **शौनकीयादीनां**[3] बह्वङ्गीकृतत्वाद् इतरेषाम् अप्रामाण्यं वदन् भवान् अवैदिकतमश्च आपद्येत! पाणिनीयानां तु गुणातिशयोऽस्माकमिष्ट एव। इतरेषामप्रामाण्यमेव तु अनिष्टम्। एतेन मीमांसादिषु व्याख्यानाय पाणिनीयमेव गृहीतमिति तस्यैव प्रामाण्यमित्येतदपि निरस्तम्। गुणवत्त्वात् प्रसिद्धतया मीमांसादौ तदुपादानोपपत्तेः। तेन अन्येषाम् अप्रामाण्यकल्पनानवकाशात्। तदिदमुक्तम्—

'बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशाद्' इति।

किञ्च, एवं वादिना पाणिनेः प्राक् कथं शब्दव्यवहारवार्त्ता इति वक्तव्यम्। नहि तदा साधुशब्दव्यवहार एव नास्ति इति युक्तम्। ऊहादिसाधुत्वाभावेन सकलधर्मानुष्ठानविप्लवप्रसङ्गाद् अपशब्दप्रयोगकृतसर्वनरकपातप्रसङ्गात् सर्वेषां म्लेच्छताप्रसङ्गाच्च।

न च तदा व्याकरणं विनैव साधुशब्दान् जानन्ति इति वाच्यम्। **'ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** इति श्रुतिवचनात्[4], तदानीं षडङ्गाध्ययनाभावेन सर्वेषामब्राह्मणत्वप्रसङ्गात्।

न च पञ्चाङ्गान्येव तदानीमध्येयानि इति वा, पाणिनीयस्यैव अङ्गत्वमिति वा वचनमस्ति। 'भाष्यकारो'ऽपि **"तस्मादध्येयं व्याकरणम्"** इत्येव[5] मुहुर्मुहुराह, न तु अध्येयं पाणिनीयमिति। तस्मात् पाणिनीयोत्पत्तेः पूर्वं पूर्वव्याकरणानामेव बह्वङ्गीकारात् तदन्यथानुपपत्तिजं प्रामाण्यं तेषामप्यनिवार्यम्। किञ्च, पूर्वं तावत् पूर्वशास्त्राण्येव बह्वङ्गीकृतानि सम्प्रत्यपि संप्रथन्ते। पाणिनीयं तु

---

१. मणिशब्देनेह गङ्गेशोपाध्यायकृतो न्यायविषयकश्चिन्तामणिग्रन्थोऽभिप्रेतः। २. न्यायवात्स्यायनभाष्यमिति भावः।

३. एतद्विषये द्रष्टव्यम् सं. व्या. शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ २५७-२५८ (तृ. सं.)।

४. महाभाष्यकारेण वचनमिदमागमनाम्नोद्धृतम्। द्र.—अ. १, पा. आह्निक १॥ ५. व्याकरणप्रयोजनवर्णनक्रमे।

इदानीमेव बह्वङ्गीकृतम् पूर्वं न प्रवर्तत इति बह्वङ्गीकारविशेषण-प्रामाण्यसाधने तेषामेव वैशिष्ट्यं स्यात्। ननु प्रमाणचराण्यपि पूर्व-शास्त्राणि पाणिनीयोत्पत्तेः परस्तात् परास्तप्रामाण्यमनुसृणान्यपि अभूवन् इति चेत् मैवम्।

कथ प्रमाणभूतानां कालात् प्रामाण्यनिह्नवः ?

श्रुतिस्मृत्यादयोऽप्येवमप्रमाणाः स्युरेकदा ॥३॥

अत एव हि "**कृते तु मानवो धर्मः**" इति केनचित् साक्षादुक्त-मपि अनादृत्य कलियुगेऽपि मनुवचनं प्रमाणीक्रियते। अतो न काल-वशात् प्रामाण्यक्षयः। गुणभेदादङ्गीकारभेद एव तु भवति इति।

तदिदमुक्तम्—'पाणिनेः प्राक् कथं वा' इति। एवमप्रामाण्य-हेत्वभावे सिद्धे, **'न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्'** इत्यनेन एव शास्त्रान्तराणां प्रामाण्यं साध्यम्। चन्द्रादिवाक्यं प्रमाणम्, समूल-वाक्यत्वात्, पाणिनीयवत्। समूलं च तद्वाक्यं बहुविद्वाक्यत्वात्, तद्वदेव बहुविदश्च ते शास्त्रकारित्वात् पाणिनिवदेव।

नहि बहुविधं वक्तव्यजातं सम्यगजानन् शास्त्रं कर्तुमारभते। आरभमाणोऽपि वा परिहासास्पदं स्यात्। तस्मात् शास्त्रकारक-त्वेन प्रसिद्धानां तेषामपि शब्दतत्त्वविस्तरवेदित्वात्, **भ्रान्तिविप्र-लम्भकत्वशङ्कायाश्च** पाणिनिवदेव तेषामपि निरवकाशत्वात्, **साव-काशत्वे** वा पाणिनेरपि तच्छङ्काया दुर्वारत्वाद्, आप्तप्रणीतत्व**हेतुना** व्याकरणान्तराण्यपि प्रमाणानीति सिद्धम्।

ननु पाणिनीयगतज्ञापकादिनैव शिष्टप्रयोगाणां साधयितुं शक्य-त्वाद् व्याकरणान्तराणां वैफल्यादेव अप्रमाणत्वं ब्रूम इति चेत्—तदपि न, क्वचित् प्रयोगाल्लक्षणकल्पना, क्वचिल्लक्षणात् प्रयोग-कल्पनम्—इति पाणिनीयपातिव्रत्यजुषामपि अविवादम्। तत्र शिष्ट-प्रयोगे दृष्टे ज्ञापकादिनैव साध्यत्वं नाम।

यत्र तु 'कथापयति' इत्यादौ व्याकरणान्तरलक्षणमेव दृष्टम्, तत्र कथमस्य गतार्थत्वकृतप्रामाण्यमापद्यते ? अपि च शिष्टप्रयोग-दृष्टिस्थलेऽपि विश्रामादौ व्याकरणान्तरसाक्षाल्लक्षणस्य स्पष्टदृष्ट-त्वात्[1] क्लिष्टतरज्ञापकादिवर्णनं गौरवायेति प्राप्तेऽपि प्रौढिकामैमुनि-

---

१. 'वेः क्रमेर्वा' इति वर्धमानः। द्र०—भागवृत्तिसंकलनम्, पृष्ठ ३७, उद्धरण० ११४।

त्वयपूजनार्थं तदीयज्ञापकादिनैव साध्यते चेद्—अस्माकमपि अदृष्टतरमेव। न तु तेन व्याकरणान्तराणां गतार्थत्वम् अप्रामाण्यं वा, इत्यास्तामेतत्।

किञ्च, पूर्वाचार्याणां प्रामाण्यं पाणिन्यादीनामप्यनुमतमेव। **'आङि चापः'**[1], **'औङ आपः'**[2] इत्यादौ पूर्वाचार्यमतसाक्षात्संज्ञाया एव उपात्तत्वात्।

'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य'[3]; **'वा सुप्यापिशलेः'**[4]; **'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः'**[5] इत्यादौ पूर्वाचार्यमतस्य साक्षादुपादानाच्च। न हि पूर्वाचार्यसङ्कीर्तनमात्राद् विकल्प उत्तिष्ठति। तन्मतमेवं मम मतमेवम् इति तन्मतोपादानादेव विकल्पसिद्धिः।

किञ्च, **'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'**[6]; **'लुब्योगाप्रख्यानात्'**[7] इति पूर्वाचार्योक्तं पाणिनिः स्वयमेव दूषयित्वा पुनः **'जनपदे लुप्'**[8] इत्यादीनि दूषितचराण्येव पूर्वाचार्यवचनानि स्पष्टमुपादत्ते। तेन ज्ञायते क्वचिद् युक्तिरसाद् दूषणे कथितेऽपि पूर्वाचार्यवचनमुपादेयमेवेति।

एवं पाणिनिना स्वेन दूषितस्यापि सङ्ग्रहात्।
पूर्वाचार्यमतं क्वापि व्याख्यादौ इष्यते यदि ॥४॥

युक्तिप्रौढिरसेनैवेत्यवगच्छन्तु कोविदाः।
तावता हेयता नेति ज्ञापयामास पाणिनिः ॥५॥

तेन पाणिन्युक्तं प्रमाणमित्यङ्गीकुर्वतापि तदभिमतत्वादेव पूर्वशास्त्राण्यपि प्रमाणमित्यङ्गीकर्तव्यम्। तदिदमुक्तम्—

'पूर्वोक्त पाणिनिश्चाप्यनुवदति' इति।

किञ्च, अनादिश्चैषा व्याकरणपरम्परा इत्युक्तत्वात्, पूर्वव्याकरणमूलमालोच्य पाणिनिनापि शास्त्रं कृतम् इति वक्तव्यम्। **'तेन प्रोक्तम्'**[9] इत्यत्रैव 'पाणिनीयं शास्त्र' मित्युदाहियते; न **'कृते**

---

१. अष्टा० ७। ३। १०५॥ २. अष्टा० ७। १। १८॥
३. अष्टा० ८। ३। १८॥ ४. अष्टा० ६। १। ८९॥
५. प्रक्रियाकौमुदी भाग १, पृष्ठ १८२। धातुवृत्तिः, इण् धातौ, पृष्ठ २४७। न्यास ६। २। ३७, पृ० ३४६। ६. अष्टा० १। २। ५३॥
७. अष्टा० १। २। ५४॥ ८. अष्टा० ४। २। ८०॥
९. अष्टा० ४। ३। १०१॥

ग्रन्थे"[1] इत्यत्र। तस्मात् पाणिनापि शास्त्रस्य प्रत्याहारविशेषशालित्वेन उक्तत्वमेव; न कृतत्वम् इत्यवगम्यते। ततश्च अपाणिनीयत्वात् पूर्वशास्त्राणामप्रामाण्यं वदता पाणिनीयस्यापि निर्मूलत्वाद् अप्रामाण्यमेव आपादितमिति सकलव्याकरणभञ्जनं सञ्जनितं महाशाब्दिकैः।

ननु पाणिनिः पूर्वशास्त्राणि प्रयोगान्तराणि च दृष्ट्वा तेषु हेयभागमपहाय शास्त्रं कृतवान् इति पाणिन्यनुक्तं हेयमेव इति चेत् न; पाणिन्यनुक्तस्य हेयत्वे वार्तिककीर्तितस्यापि हेयत्वप्रसङ्गात्। न च सूत्रवार्तिककारयोरसर्ववित्त्वेऽपि भाष्यकारस्तु भगवान् शेष एव इति तस्मिन् अज्ञातृत्वशङ्काभावात् तदनुक्तं हेयमेव इति वाच्यम्? ज्ञातृत्वेऽपि आनन्त्यवशाद् अनुक्तिसम्भवात्, अन्यथा आकृतिगणादीनि कुतस्तेन परिच्छिन्नानि? इत्यास्तां तावत्। तेन एवमेव वक्तव्यम्—

दृष्ट्वा शास्त्रगणान् प्रयोगसहितान् प्रायेण दाक्षीसुतः,
प्रोचे, तस्य तु विच्युतानि कतिचित् कात्यायनः प्रोक्तवान्।
तद्भ्रष्टान्यवदत् पतञ्जलिमुनिस्तेनाप्यनुक्तं क्वचि-
ल्लोकात् प्राक्तनशास्त्रतोऽपि जगदुर्विज्ञाय भोजादयः ॥६॥

अतः सिद्धं पाणिनीयमूलभूतत्वात् पूर्वशास्त्राणां प्रामाण्यमनिवार्यमिति। तदप्युक्तम्—'पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति' इति। ननु, अस्तु तावदेवमविरोधस्थले—पाणिन्यादिवचनविरोधे तु शास्त्रान्तरोक्तं बाध्यमेव इति चेन्न, तेषामपि प्रमाणत्वेन अबाध्यत्वस्य स्थितत्वात्। [2]**उदितानुदितहोमवत्** [3]**षोडशिग्रहणाग्रहणवत्** च विकल्पस्यैव प्रकल्प्यत्वात्। अत एव **स्मृतिचन्द्रिकादिषु** स्मृतिकारवचनयोर्विरोधे सति द्वयोरपि विकल्पेन ग्राह्यत्वं तत्र तत्र उच्यते।

तत्र तत्र विकल्पार्थं पूर्वाचार्याननुदीरयन्।
मतभेदे द्वयं ग्राह्यं ज्ञापयत्येव पाणिनिः ॥ ७ ॥

---

१. अष्टा० ४। ३। ११६॥

२. 'उदिते होतव्यम्' इत्येका श्रुतिः, 'अनुदिते होतव्यम्' इत्यपरा। अनयोस्तुल्यबलविरोधित्वाद् विकल्पेन प्रामाण्यमाश्रियते।

३. 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येका श्रुतिः, 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'त्यपरा।

न च एकस्यैव शब्दस्य शास्त्रद्वयेन साधुत्वम् असाधुत्वं च बोध्यते, इति वस्तुतो द्वैरूप्ययोगेन विरोधस्यैव युक्तत्वात् न ग्रहणाग्रहणानुष्ठानवद् विकल्प-सम्भव इति वाच्यम्, न हि केनापि शास्त्रेण शास्त्रान्तरोक्तस्य असाधुत्वं बोध्यते। किन्तु, लक्षणशिष्टप्रयोगरहिताः शब्दा असाधव इति दिक्प्रदर्शनन्यायेन बोधितं भवति इति नियमपरत्वदूषणावसर एव भाषितम्। किञ्च षोडशिग्रहणमपि शास्त्राभ्यामदृष्टहेतुत्वेन प्रत्यवायहेतुत्वेन च बोधितमिति कथं तत्र श्रुतिशरणानां विकल्पेनापि प्रवृत्तिसिद्धिरिति पृष्टे यः परिहारः स एवात्रापि भविष्यति इति सिद्धं विरोधप्रतिभानेऽपि विकल्पेन ग्रहणमिति। तदिदमुक्तम् — 'विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः'— इति। किञ्च, विरोध एव पाणिनीयेतरवचसोर्न संभवति। तत्र विधिसूत्रेषु तावद् एतेभ्य एवायं प्रत्ययो भवति इत्यादिनियमो न संभवति। अप्राप्ते नियमायोगात्। न च 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायेन नियमः शङ्कनीयः। अयोगव्यवच्छेदेनापि अवधारणसम्भवात्। अन्याऽप्राप्तविधिनियमविधिद्वयकथापि उच्छिद्येत। तस्माद् अप्राप्तविधिषु तावत् परशास्त्रैरधिकोक्तौ न विरोधः, यत्र तु उत्सर्गतः प्राप्तौ अपवादतया नियमार्थं सूत्रं तत्रापि परैरधिकोक्तौ 'क्वचिदपवादविषयेऽपि उत्सर्गो भवति'[1] इति न्यायादविरोधः।

न च पाणिनिना न इत्युक्ते परैः अस्ति इत्युच्यमाने विरोधः। ज्ञापकगणनञ्निर्दिष्टानि अनित्यानि इति नञ्निर्दिष्टस्य अनित्यत्वकथनेन परविरोधोद्धृत्वाभावात्। न च भाष्याद्युक्तिभिर्विरोध इति वाच्यम्।

> युक्तयो न्यायगास्तथा न्यायाश्च ज्ञापकोद्भवाः।
> ज्ञापकोक्तास्त्वनित्याश्च न चानित्या विरोधिनः ॥ ८ ॥
>
> युक्त्यैव शब्दसिद्धिश्चेद् विप्लुता शब्दसाधुता।
> तस्माद् दृढप्रयोगान् वा पूर्वव्याकरणानि वा ॥ ९ ॥
>
> आलम्ब्यैव हि युक्त्यापि साधयन्ति मनीषिणः।
> अत एव हि युक्त्युक्त्या साधवे वक्तृचिन्तनम् ॥ १० ॥

---

१. परिभाषावृत्तिषु 'उत्सर्गोऽभिनिविशते' पाठः। पुरुषोत्तमदेव ११५, सीरदेव ३३, नागेश ५८।

तस्माच्छब्दाभियुक्तानां युक्त्या द्वेधाऽपि साधने ।
समूलत्वाद् द्वयं ग्राह्यम्; अविरोधश्च वर्णितः ।। ११ ।।

न क्वचित् ज्ञापकं विनाऽपि **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'**[1] इति साक्षाद्वचनमेव युक्तिः स्याद् इति तत्र अनित्यत्वाभावाद् विरोध इति वाच्यम्, साक्षाद्वचनेऽपि विधिनिषेधकोट्योरविरोधस्य प्रागुक्तत्वात् । तत्सिद्धमविरुद्धत्वात् सर्वव्याकरणानां समप्रामाण्यम् । तदिदमुक्तम्—विरोधस्यासम्भवद्योतकेन 'विरोधेऽपि' इति अपि शब्देन । नन्वस्तु तावदेवं पूर्वव्याकरणानाम् आर्षत्वेन प्रामाण्यम्, अर्वाचीनभोजबोपदेवादिवचनानां तु कथं कथ्यते इति चेत् तत्रापि—

'न खलुबहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्'

इति ब्रूमः । भाष्यादिकथितसकललक्षणानुकथनादिपरिनिश्चितबहुविद्भावा हि भोजादयः शास्त्रान्तरमहाजनप्रयोगादिमूलमालम्ब्यैव शास्त्राणि प्रणीतवन्त इति पाणिनीयवत् तेषामपि प्रामाण्यमेव । त्रिमुनिव्याकरणे उत्तरोत्तरं च प्रामाण्यमित्यत्रापि बहुवित्त्वमेव उत्तरोत्तरप्रामाण्ये हेतुः । दृष्टहेतुसम्भवे अदृष्टहेतुकल्पनानुपपत्तेः । तच्च बहुवित्त्वं भोजादीनामपि समानमिति तेषां विशेषादरणीयत्वमेव इति ।

'न खलु बहुविदाम्' इत्यस्य अन्योऽप्यर्थः । निर्मूलं खलु व्याकरणान्तराप्रामाण्यं बहुविदो न वदेयुः । एतदपेक्षया तावद् बहुविद्वां विद्यारण्यादीनां तदकथनात् । तस्माद् बहुग्रन्थवेदित्वाभावादेवायं प्रतिवादी निर्लज्जमेव निर्मूलवाक्यं प्रलपतीत्युपहसनीयमेवेति ।

पूर्वव्याकरणादिमूलरहितं युक्त्यैव यत् साध्यते,
कैश्चित् तत्र मुनित्रयाप्रतिहते हेयत्वमुद्घोष्यते ।
अन्येभ्यो गुणवत्तया च बहुभिर्यद् गृह्यते खल्विदं,
तस्मात्खल्वयमन्यशास्त्रमखिलं मिथ्येति विभ्राम्यति ।। १२ ।।

इति ।

एवम् अस्माभिः व्याकरणान्तरप्रामाण्ये साधिते सति यत् पुनः परेण अप्रामाण्यसाधनं कृतं तदर्थात् गर्भस्रावेण गतमपि इदानीं प्रत्येकयुक्त्युपादानेन खण्डयते ।

---

१. अष्टा० १ । ४ । २ ।।

तत्र यत् तावदुक्तं **शङ्कराचार्य**प्रभृतिभिः श्रुतिव्याख्यानादिषु पाणिनीयमेव गृहीतमिति तस्यैव प्रामाण्यम्, अन्यव्याकरणानां व्याख्यानागृहीतत्वाद् अप्रामाण्यमिति तदसारम्। **शङ्कराचार्यमुरारि**प्रभृतिभिरपि स्वप्रयोगमूलत्वेन व्याकरणान्तराणामङ्गीकारात्। व्याख्यानादिषु ग्रहणाग्रहणयोः बहुप्रसिद्धयल्पप्रसिद्धिनिबन्धनत्वेन प्रामाण्याप्रामाण्यप्रयोजकत्वाभावात्; **विद्यारण्यादि**भिश्च 'कथापयत्य'ादिनिरूपणे, **प्रसादकारा**दिभिश्च तत्तद्व्याख्यानावसरे, **नैषधव्याख्यातृविश्वेश्वरा**दिभिश्च 'अल्पमेधः'पदादिव्याख्याने, **क्षीरस्वामि-सर्वानन्द-सुबोधिनीकारादिभिश्च अमरसिंहनिघण्टुव्याख्याने** तत्र तत्र अङ्गीकृतत्वाद्, **वेदनिघण्टुव्याख्यात्रा**[1] च 'भोजसूत्रस्य' सर्वत्र अङ्गीकृतत्वात्, व्याख्यानादिषु अपरिगृहीतत्वस्यापि असिद्धेः, पाणिनीयप्राक्काले च तेषामेव प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्।

न च सिद्धस्य प्रामाण्यस्य नाशे कारणमस्ति, इत्याद्युक्तमेव। यत्तु मुनित्रयवचनस्य एत एव साधुशब्दा इति, नियमपरत्वाद् एतद्विरोधाद् अन्यशास्त्राणां त्याज्यत्वमुक्तम्, तदपि नियमस्य शास्त्रस्वभावत्वे पाणिनिनियमितत्वाद्वार्तिकाप्रामाण्यं स्यादिति बहुधा परोक्तनियमपरत्वनिरसनाद् अपास्तमेव। विरोधे च एकमेव ग्राह्यमित्येतच्च षोडशिग्रहणाग्रहणादौ '**स्मृतिचन्द्रिका**'द्युक्तस्मृतिद्वयोक्तविकल्पनीयत्वे च व्यभिचरितमित्युक्तप्रायम्। विरोधश्च नियमाभावात् नास्तीत्युक्तम्। यत्तु'**व्यासो**क्तानां **प्रातिशाख्य**रूपासाधारणव्याकरणमूलत्वमिति तदपि न, अपाणिनीयत्वसाम्येऽपि असाधारणव्याकरणानामिष्टत्वे साधारणेषु विद्वेषे च निमित्तं नास्ति इत्युक्तत्वात्। छान्दससूत्रैर् 'एत एव वेदे साधवः' इति नियमितत्वेन परमते प्रातिशाख्यप्रामाण्यस्यापि दुःसाध्यत्वात् च। यत्तु आचार्यसंकीर्तनस्य विकल्पाद्यर्थत्वेन उपपत्तेः, न तत्प्रामाण्यमङ्गीकृतमिति, तदपि न, मन्मतमेवं तन्मतमेवमिति तन्मतस्य प्रामाण्यानङ्गीकरणे विकल्पस्यैव असिद्धेः। स्ववाग्विरुद्धत्वात्। न च संकीर्तनमात्रात् विकल्प उत्तिष्ठति, प्रामाण्यानङ्गीकारे पूजार्थत्वं तु दूरापास्तम्।

यत्तु मीमांसादौ अनभिमताचार्यसंकीर्तनवदिदमुपपन्नमिति तन्न, तत्र दूष्यत्वेनैव तन्मतोपादानात्। इह तु तदभावात्। न च

---

१. देवराजयज्वनेति भावः।

तत् प्रमाणम्—'बादरायणस्यानपेक्षत्वात्'[1] इत्यादौ ग्राह्यतया संकीर्तनेऽपि देवताविग्रहवत्त्वादौ तन्मतस्य परित्यागदर्शनाद् अत्रापि तथा, इति वाच्यम्। तत्रापि मतभेदेन सर्ववैदिकपक्षाणां गृह्यमाणत्वदर्शनात्।

यत्तु [2]कौमुदीकारादिभिः स्वबुद्धिविस्तारबोधनार्थमेवं मतान्तरप्रदर्शनं कृतं न तत्प्रामाण्यादिति तदप्यबद्धम्। अप्रमाणभूतस्य कथने एव बुद्धिमान्द्यस्यैव प्रकाशनप्रसङ्गादिति। एवं परोक्तौ अस्मदुक्तविरुद्धोंऽशः खण्डितः।

ततोऽन्यग्रन्थसन्दोहैर्मदुक्तान्येव साधयन्।
'वैनतेयो' ममात्यन्तं बन्धुरेवेति शोभनम्॥ १३॥

❦

अनुबन्धः[3]

हे श्रीमच्चोलदेशप्रथितबुधवराः! शब्दशास्त्रान्तराणाम्
कोऽप्यप्रामाण्यमूचे; किमपि निगदितं तत्र चास्माभिरेवम्।
कौमुद्यां धातुवृत्त्यादिषु कथितया वैदिकाङ्गत्वसाम्याद्
युष्माकं सम्मतं स्यादिति लिखितमिदं शोधयध्व महान्तः॥१॥

श्री'सोमेश्वरदीक्षिता'भिधमहाविद्वत्कुलाग्रेसरा!
मीमांसाद्वयशब्दतर्ककुशला! युष्मानधृष्योन्नतान्।
तत्त्वज्ञान् करुणानिधीन् प्रशमिनः श्रुत्वेदमभ्यर्थये,
यत् किञ्चिल्लिखितं मयाऽत्र, तदिदं स्वीकार्यमार्यात्मभिः॥२॥

युष्माभिः खलु 'कामदेव'विजये ह्यालेखि कक्ष्याक्रमम्,
तं द्रष्टुं भृशमुत्सुका वयमतः सम्प्रेष्यतां साम्प्रतम्।
युष्मादृक्षविचक्षणोक्तिपदवीसंप्रेक्षणेन क्षणाद्,
अस्माकं खलु बुद्धिशुद्धिरुदियादित्येष तत्राऽशयः॥३॥

प्रयुक्तहेतौ सति कामदेवे कृतेऽस्य भङ्गः पटुदर्शनेन,
सोमेश्वराख्याग्रहणस्य चैतत् सर्वज्ञभावस्य च युक्तरूपम्॥४॥

---

१. मीमांसा १। १। ५॥

२. प्रक्रियाकौमुदीकारादिभिरित्यर्थः।

३. मुद्रित ग्रन्थ एव पठितोऽयमनुबन्धः।

युष्मद्वैदुष्यभूतं खलु कटकभुवि त्रायते भोगिराजम्,
वाणीवेणीविधूतामपि सुरसरितं कञ्चुकीको जटायाम् ।
इत्येवं 'यज्ञनारायणविबुधमहादीक्षिताः' ! शत्रुवर्ग-
त्राणाद् देवस्य तस्याप्यहरदथ धिया साधु सर्वज्ञगवम् ॥५॥

युष्मास्वेव क्षितीशो विपुलनयनिधिस्तिष्ठते राज्यदृष्टौ,
तिष्ठध्वे यूयमेव प्रथितबुधजने सन्दिहाने समेते,
युष्मभ्यं तिष्ठते कस्त्रिदशगुरुसमानोऽपि युष्मादृगन्यः,
प्रज्ञालून् यज्ञनारायणविबुधमहादीक्षितान् वीक्षते कः ? ॥६॥

अस्वस्थाः केरलस्थाः स्वयमतिमृदवस्तत्र चाहं विशेषात्,
सर्वे दूरप्रचारे खलु शिथिलधियः, किं पुनर्दशभेदे;
एवं भावेऽपि दैवात् कुहचन समये कल्पताऽकल्प्यते चेत्,
प्रज्ञाब्धीन् यज्ञनारायणविबुधमहादीक्षितानाश्रिताहे ॥७॥

॥ समाप्तिः—शुभं भूयात् ॥

दूसरा परिशिष्ट

पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिक व्याख्या

का

संक्षिप्त निदर्शन

व्याकरण के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त विद्वानों द्वारा प्रायः स्वीकृत हैं। एक—व्याकरण का प्रयोजन स्वसमय में प्रयुज्यमान लोक-भाषा के शिष्ट पुरुषों द्वारा आदृत स्वरूप का ज्ञान कराना और लोक-सुलभ अपभ्रंश की प्रवृत्ति को रोकना अथवा भाषा को अपभ्रष्ट प्रयोगों के सम्मिश्रण से बचना। दूसरा—व्याकरण लोक-व्यवहृत भाषा का निदर्शक मात्र होता है। चाहे कितना ही सूक्ष्म मेधावी वैयाकरण क्यों न हो और कितना ही विस्तृत व्याकरण क्यों न रचा जाये, व्याकरण शास्त्र भाषा को पूर्णतया कभी भी व्याप्त नहीं कर सकता।

ये सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप से सभी भाषा के व्याकरणों पर लागू होते हैं, तथापि अतिप्राचीन काल से चली आई अतिविपुल संस्कृतभाषा के व्याकरणों के सम्बन्ध में तो यह नितान्त सत्य है। संस्कृत भाषा के व्याकरणों के सम्बन्ध में उक्त सत्य तब अधिक प्रस्फुटित हो जाता है, जब संस्कृतभाषा के प्रसिद्धतम पाणिनीय व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन तथा पाणिनीय काल की समीपवर्ती शिष्ट पुरुषों द्वारा व्यवहृत संस्कृत भाषा को देखते हैं।

इसके साथ ही संस्कृतभाषा के सम्बन्ध में दो ऐतिहासिक तथ्य और ध्यान देने योग्य हैं। उनमें से एक है—उत्तरोत्तर मानव समाज में मतिमान्द्य आदि कारणों से लोक व्यवहृत संस्कृत भाषा में क्रमशः ह्रास होना और दूसरा अन्य समस्त शास्त्रीय वाङ्मय के समान व्याकरण शास्त्र के प्रवचन में भी उत्तरोत्तर संक्षेप होना।[1]

---

१. इन दोनों विषयों का उपपादन हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में किया है। पाठक उसे एक बार पुनः पढ़ने का कष्ट करें।

प्रथम कारण अर्थात् संस्कृतभाषा में क्रमिक ह्रास होने से यास्क और पाणिनि के समय संस्कृतभाषा अत्यन्त अव्यवस्थित हो चुकी थी। सहस्रों प्राचीन प्रकृतियां (धातु वा प्रातिपदिक) उस समय तक लुप्त हो चुकी थीं, परन्तु उनसे निष्पन्न शब्द (यास्कीय व्यवहारानुसार 'विकार') पाणिनि के काल में लोक-व्यवहार में प्रचलित थे। इसी प्रकार सहस्रों प्रकृतिरूप मूल शब्द पाणिनि के समय में व्यवहृत थे, परन्तु उनसे निष्पन्न शब्दों का लोकभाषा में उच्छेद हो गया था। इसके साथ ही संस्कृतभाषा के सम्बन्ध में यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि यास्कादि के काल में देशभेद से कहीं प्रकृतियों का ही प्रयोग होता था, तो कहीं उनसे निष्पन्न शब्दों का ही।

इस विषय की संक्षिप्त परन्तु विशद मीमांसा हमने इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में की है। उसका गम्भीरता से अध्ययन करने पर हमारे द्वारा यहां प्रकट किये गये तथ्य भले प्रकार विस्पष्ट हो जायेंगे।

वैयाकरणों की कठिनाई

जब किसी भाषा में से मूल प्रकृतियों का लोप (=व्यवहाराभाव) हो जावे, परन्तु उससे निष्पन्न शब्दों का प्रयोग प्रचलित हो, तब व्याकरण-प्रवक्ता के सन्मुख कितनी कठिनाई उत्पन्न होगी, यह किसी भी मनस्वी द्वारा गम्भीरता से सोचने पर स्वयं व्यक्त हो सकती है। व्याकरणशास्त्र के प्रवचन में अर्थ-सम्बन्ध का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। शब्दार्थ-सम्बन्ध के ज्ञान का मुख्य आधार लोकव्यवहार ही होता है। इस कारण जब व्याकरण-प्रवक्ता लुप्त प्रकृति से निष्पन्न शब्दों के अन्वाख्यान में लुप्त प्रकृति का निर्देश करे, तो उसे उन लुप्त प्रकृतियों के अर्थ का भी निर्देश करना पड़ेगा। क्योंकि लोक में उनका व्यवहार न रहने से उन शब्दों और उनके अर्थों को लौकिक जन नहीं जानते। यदि व्याकरण-प्रवक्ता लुप्त प्रकृतियों से निष्पन्न शब्दों का अन्वाख्यान करने के लिये लोकप्रचलित किसी शब्द का उपादान करले तो अर्थज्ञान तो हो जायगा, किन्तु प्रकृतिविकारभाव का यथावत् परिज्ञान नहीं होगा। ऐसा असम्बद्ध अन्वाख्यान यास्क के शब्दों में स्वर-संस्कार एवं प्रादेशिक विकार की दृष्टि से अन्व-

न्वित होगा।[1] लोप आगम आदेश आदि अप्रादेशिक विकारों की कल्पना करनी पड़ेगी, और वह असम्बद्ध होने से अनादरणीय होगी।[2]

जब संस्कृतभाषा के मेधावी साक्षात्कृतधर्मा वैयाकरणों के सन्मुख यह स्थिति उत्पन्न हुई, तो उन्होंने अपनी प्रखर मेधा से इस समस्या का ऐसा समाधान ढूंढ निकाला कि उनके प्रवचन में उक्त समस्त दोष न केवल निराकृत ही हो गये, अपितु उन्होंने अपने नियमों के द्वारा संस्कृतभाषा के विलुप्त सहस्रों प्रकृतियों (धातु वा प्रातिपदिकों) और उनसे निष्पन्न होनेवाले लक्षों शब्दों को उस काल तक सुरक्षित कर दिया, जब तक उनके द्वारा प्रोक्त व्याकरण-शास्त्र इस भूमि पर वर्तमान रहेंगे। संस्कृत व्याकरण-शास्त्र की इसी महत्ता को भट्ट कुमरिल ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

'यावांश्च अकृतको विनष्टः शब्दराशिः, तस्य व्याकरणमेवैकम् उपलक्षणम्, [3]तदुपलक्षितरूपाणि च। तन्त्र-वार्तिक १।३।१२। पृष्ठ २६९।

अर्थात्—[संस्कृतभाषा का] जितना स्वाभाविक शब्दसमूह नष्ट हो गया था, उसके उपलक्षक (=ज्ञान करानेवाले) एकमात्र व्याकरणशास्त्र के नियम वा तन्निर्दिष्ट रूप हैं।[4]

व्याकरणशास्त्र के अर्वाचीन व्याख्याता

संस्कृत-व्याकरण के प्रवक्ता मनीषियों ने उक्त दृष्टि से शास्त्र-प्रवचन में जो चमत्कार प्रस्तुत किया था, वह कालक्रम से विलुप्त हो गया। इस कारण पाणिनीय व्याकरण के अर्वाचीन व्याख्याता विद्वानों ने स्वीय व्याख्याओं में उक्त तथ्य को भुलाकर जो व्याख्याएं

---

१. द्र०—अथानन्वितेऽर्थे·········। निरुक्त १।१३; २।१॥

२. द्र०—अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे······तदेतन्नोपपद्यते। निरुक्त १।१३॥ न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। निरुक्त २।१॥

३. द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४२, टि० २ (तृ० सं०)।

४. द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४२, टिप्पणी ३ (तृ०सं०)। 'सूत्रवार्तिकभाष्येषु दृश्यते चापशब्दनम्।' तन्त्रवार्तिक, शाबर-भाष्य, भाग, १, पृष्ठ २६०, पूना सं०।

लिखीं, उनमें उक्त चमत्कार सर्वथा लुप्त हो गया। और व्याकरण का प्रयोजन येन केन प्रकारेण शब्द-व्युत्पत्ति तक सीमित रह गया। इतना ही नहीं, इन व्याख्याकारों ने प्राचीन ऋषि-मुनि-आचार्यों के उन शिष्ट प्रयोगों को, जिनका साधुत्व इन व्याख्याताओं की व्याख्या से उपपन्न नहीं होता था, उन्हें अपशब्द कह दिया।

इसके साथ ही इन वैयाकरणों ने स्वीय शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त के विपरीत एवं ऐतिहासिक तथ्य से विहीन **यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्** सदृश सिद्धान्तों की कल्पना करली। और पूर्व-पूर्व आचार्य-बोधित शब्दों को अपशब्द मान लिया।

व्याकरणशास्त्र का मुख्य आधार—व्याकरणशास्त्र का विशेषकर पाणिनीय व्याकरण का मुख्य आधार है—**शब्दनित्यता**। भगवान् पतञ्जलि ने इस तथ्य को महाभाष्य में स्थान-स्थान पर उजागर किया है।[1] इस तथ्य को स्वीकार करने पर कोई भी शब्द कालभेद से अपशब्द नहीं माना जा सकता। और ना ही उसमें कालभेद से विकार स्वीकार करते हुये यथोत्तर मुनि-प्रामाण्य से साधु शब्द स्वीकार किया जा सकता है।

कुछ व्याख्याताओं ने शब्दनित्यत्वरूप स्वशास्त्र-सिद्धान्त-हानि दोष से बचने के लिये कालभेद से प्रयोग में धर्म अथवा अधर्म की कल्पना की है। इसके लिये उन्होंने '**कृते तु मानवो धर्मः····कलौ पारांशरी स्मृता**' रूप काल्पनिक वचनों का आश्रय लिया है।[2] इस पक्ष में भी विचारणीय यह है कि उक्त वचन किसी भी शिष्ट ऋषि-मुनि-प्रोक्त धर्मशास्त्र का नहीं है। अतः इसे हेतु बनाकर व्याकरण-शास्त्र जैसे शिष्ट-प्रोक्त ग्रन्थ पर घटाना चिन्त्य है। इतना ही नहीं, धर्मशास्त्रों में जिन धर्मों=कर्त्तव्यकर्मों का विवेचन किया गया है, वे

---

१. महाभाष्य अ. १, पा. १, आ. १; अ. १, पा. १, सूत्र १६ तथा अन्यत्र बहुत्र।

२. यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मण व्याकरणे द्वयशब्दस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात् तद्वीत्याऽयं प्रयोग इति। तदपि न। मुनित्रयमतेनेदानीं साध्वसाधुविभागस्तस्यैवेदानीन्तनैः शिष्टैर्वेदाङ्गतया परिगृहीतत्वात्। दृश्यन्ते हि नियतकालाः स्मृतयः। यथा - कलौ पाराशरी स्मृतेति। शब्दकौस्तुभ १।१।२७॥ इसका प्रत्याख्यान द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३४, टि० ३।

दो प्रकार के हैं। इनमें कुछ धर्म शाश्वत हैं, जो देश-काल की सीमा से बाहर हैं। ये सदा ही एकरस रहते हैं। जैसे सत्यभाषण, चोरी का परित्याग, दीनों की सहायता करना आदि। ये ही शाश्वत धर्म संस्कृति के अङ्ग होते हैं। कुछ धर्म=कर्म सभ्यता के अंशरूप होते हैं। वे देश काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। देश-कालानुसार परिस्थितियां बदलने पर उस-उस समय के आचार्य समाज की सुरक्षा के लिये सामाजिक नियमों में परिवर्तन करते रहते हैं। अतः ये नियम देशकाल परिस्थिति के अनुरूप होने से सापेक्ष होते हैं। इसलिये ये एकान्त सत्य नहीं होते। अन्यथा एक ही समाज में एक ही काल में देश वा परिस्थिति के भेद से परस्पर विरोधी धर्मों का आचरण उपलब्ध नहीं होता। यथा उत्तर भारत में विवाह रात में ही होते हैं, और सुदूर दक्षिण में दिन में प्रायः प्रातःकाल। इतना ही नहीं, पञ्जाबियों में विवाह बारह मास होते रहते हैं, परन्तु अन्य लोगों में कुछ नियत मासों में ही विवाह होते हैं।

यतः शब्दकारों ने शब्द को नित्य माना है। अतः इसकी तुलना धर्मशास्त्रीय देश-कालातीत नित्य धर्मों से ही की जा सकती है, न कि देश-काल परिस्थित्यनुसार बदलनेवाले धर्मों के साथ।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि जिस **कलौ पाराशरी स्मृता** के दृष्टान्त के बल पर आधुनिक वैयाकरण देश काल के भेद से साधु शब्द के प्रयोग-अप्रयोग की वा धर्म-अधर्म की कल्पना करते हैं, वह वचन धर्मशास्त्र के निबन्धकारों को ही पूर्णतः मान्य नहीं है। अन्यथा निबन्धकारों का पाराशर स्मृति को छोड़कर मन्वादि स्मृतियों को प्रमाणरूप में उपस्थित करना भी असङ्गत हो जाएगा। यही स्थिति व्याकरण-शास्त्र के विषय में जाननी चाहिये। अन्यथा स्वयं पाणिनि का अपने से पूर्वभावी आपिशलि आदि आचार्यों के मतों वा उनकी संज्ञाओं का निदर्शन कराना व्यर्थ हो जायेगा।

व्याकरणशास्त्र में **यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्** सदृश नियमों की कल्पना तो इधर ५-६ शताब्दियों में ही हुई है। पाणिनीय व्याकरण के प्राचीन व्याख्याता न्यूनातिन्यून इस दोष से प्रायः असम्पृक्त ही रहे हैं। इसीलिये उन्होंने न प्राचीन शिष्ट प्रयोगों को अपशब्द माना, और न ही व्याकरणान्तर बोधित शब्दों के संग्रह में कृपणता ही बरती।

प्राचीन मतों के संग्रह में महाभाष्यकार की सम्मति—महाभाष्यकार के मतानुसार तो पाणिनीय व्याकरण द्वारा अनुक्त प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दशित रूपों का संग्रह पाणिनीय तन्त्र में भी अभीष्ट है। महाभाष्यकार लिखते हैं—

'इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते—परिमृजन्ति, परिमार्जन्ति···· । तदिहापि साध्यम् ।' महा० १।१।३॥

अर्थात्—अन्य वैयाकरण अजादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे मृज को विभाषा वृद्धि कहते हैं—**परिमृजन्ति, परिमार्जन्ति**। यह कार्य यहां (=पाणिनीय तन्त्र) में भी साध्य है।

पाणिनीय शास्त्रानुसार 'परि मृज अन्ति' में अन्ति के ङित् होने से वृद्धि का नित्य निषेध प्राप्त होता है।

इतनी भूमिका के पश्चात् हम पाणिनीय सूत्रों की उस भाषाविज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप दर्शाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त की रक्षा हो, शास्त्र-प्रवक्ताओं के कौशल का परिचय प्राप्त हो, और प्राचीन संस्कृतभाषा में विद्यमान, परन्तु उत्तरकाल में विलुप्त, प्रकृतियों (धातु-प्रातिपदिक) वा उनसे निष्पन्न होनेवाले शब्दों का परिज्ञान होवे। और उससे प्राचीन संस्कृतभाषा में विद्यमान विपुल शब्दराशि का बोध अनायास हो सके।

इतना ही नहीं, हमारे द्वारा प्रस्तुत व्याख्या-सरणि का ज्ञान होने पर आधुनिक भाषा-शास्त्रियों के द्वारा संस्कृतभाषा पर जो आक्षेप किये जाते हैं, उनका भी निराकरण करने में सहायता मिलेगी।

पाणिनीय सूत्रों की भाषाविज्ञानिक व्याख्या

प्रस्तुत व्याख्या-सरणि पर विचार करने से पूर्व व्याकरणशास्त्र में शब्द-साधुत्व के निदर्शन के लिए जो प्रक्रिया अपनाई गई है, उसे जान लेना आवश्यक है।

वैयाकरणों ने शब्द-साधुत्व के निदर्शन के लिए जो प्रक्रिया अपनाई है, उस पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाये, तो उसके तीन भेद स्पष्ट उपलब्ध होते हैं। एक प्रक्रिया वह है–जिसमें धातु वा प्रातिपदिक से प्रत्यय होने पर स्वाभाविक विकार होते हैं। यथा

इकारान्त उकारान्त ऋकारान्त वा अकारोपध धातु से ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर समानरूप से धातु को वृद्धि होती है। इसी प्रकार तद्धित ञित् णित् कित् प्रत्यय परे आद्यच् को वृद्धि होती है। जो विकार सामान्यरूप से सर्वत्र होते हैं, उन्हें यास्क के शब्दों में प्रादेशिक विकार एवं **अन्वितसंस्कार** कहा जाता है।[1] दूसरी प्रक्रिया वह है—जिसमें किसी धातु वा प्रातिपदिकविशेष में लोप आगम वर्णविकार वा आदेशादि करके शब्दस्वरूप का अन्वाख्यान किया जाता है। जैसे – **हतः घ्नन्ति दीयते पिबति आदि**। इसे यास्क के शब्दों में **अनन्वित संस्कार** कहा जाता है। तीसरी प्रक्रिया वह है—जिसमें एक से अधिक असामान्य कार्य होते हैं। इसे **निपातन प्रक्रिया** कहा जाता हैं। जैसे—**निष्टर्क्य पाणिन्धमः हैयंगवीनम्**। इसे यास्क के शब्दों में **अनन्वित संस्कार** और **अप्रादेशिक विकार** माना जाता है।

हमारी प्रस्तुत सूत्र-व्याख्या का सम्बन्ध विशेषरूप से द्वितीय प्रक्रिया के साथ, और कुछ सीमा तक तृतीय प्रक्रिया के साथ है। इस लिए इस विशिष्ट व्याख्या के निदर्शनार्थ इसी प्रकार के सूत्र उपस्थित किये जायेंगे। हमने जहां तक शास्त्रकारों को त्रिविध प्रक्रिया पर विचार किया है, उसके अनुसार हम कह सकते हैं कि शास्त्रकारों ने द्वितीय तृतीय प्रक्रिया का आश्रयण प्रायः वहीं किया है, जहां धातु वा प्रातिपदिक रूप मूल प्रकृति का लोप हो गया था, परन्तु उनसे निष्पन्न शब्द उनके काल में विद्यमान थे।

प्रस्तुत व्याख्या का आधार

पाणिनीय सूत्रों की जिस व्याख्या को हम प्रस्तुत कर रहे हैं, वह हमारी कल्पना नहीं है, अपितु व्याकरणशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य महामुनि पतञ्जलि और उत्तरवर्ती कतिपय प्राचीन व्याख्याकारों के प्रत्यक्ष व्याख्यानों पर आधृत है। प्रस्तुत व्याख्या के व्यापक विषय को हम स्थूल रूप से निम्न विभागों में बांट सकते हैं—

१—प्रकृतिभाग से संबद्ध लोप आगम आदेश वर्णविकार आदि के निर्देश द्वारा प्रकृत्यन्तर सद्भाव को द्योतित करना।

२—प्रत्ययभाग से संबद्ध लोप आगम आदेश वर्णविकार आदि के द्वारा प्रत्ययान्तर सद्भाव को प्रकट करना।

---

१. इसी भाग का पृष्ठ ३, टि० १।

३—[1]गण कार्य का उपलक्षणत्व व्यक्त करना।

४—पाणिनीय नियमों से असिद्ध पाणिनीय प्रयोग द्वारा विविध नियमान्तरों की कल्पना, अथवा उक्त नियमों का प्रायिकत्व द्योतित करना। यथा—

(क) सन्धि-नियम (ग) लिङ्ग-नियम
(ख) विभक्ति-नियम (घ) समास-नियम

५—प्रयोक्ता के अभिप्राय का अन्य प्रकार से ज्ञापन होने पर तद् विशेष वाचक अंश के प्रयोग की अविवक्षा—**उक्तार्थानामप्रयोगः**।[2]

अब हम क्रमशः एक-एक विषय को प्रकट करने के लिये एक-एक दो-दो सूत्रों वा वचनों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

१—प्रकृत्यन्तर सद्भाव की कल्पना—सूत्र वार्तिक आदि के द्वारा जहां प्रकृति को आगम आदेश लोप वर्णविकार आदि का विधान किया है। और उस-उस कार्य को सम्पन्न कर लेने पर प्रकृति का जो रूप निष्पन्न होता है, उसे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्वतन्त्र प्रकृति मानकर आगम आदि विधान को अवक्तव्य माना है।

आगमसंयुक्त धात्वन्तर—वार्तिककार कात्यायन ने **नयतेः षुक् च** (अ० ३।२।१३५) वार्तिक द्वारा ष्ट्रन् प्रत्यय परे 'नी' को 'षुक्' (ष्) का आगम करके **नेष्ट्रा** रूप बनाया है। इस पर भाष्यकार कहते हैं—

'न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? धात्वन्तरं नेषतिः। कथं ज्ञायते? नेषतु नेष्टात् इति हि प्रयोगो दृश्यते। इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात्।'

अर्थात्—'नी' से षुक् आगम का विधान नहीं करना चाहिये। क्या कारण है? 'निष' धात्वन्तर है। कैसे जाना जाता है कि 'निष' धात्वन्तर है? **नेषतु नेष्टात्** प्रयोग देखे जाते हैं, अर्थात् जहां षुक् के

---

१. इसके अन्तर्गत विकरण-इट्-अनिट्-आत्मनेपद-परस्मैपद आदि विधियों और प्रातिपदिक-गण संबन्धी समस्त कार्यों का संग्रह समझना चाहिये।

२. महाभाष्य १।१।४४।। १।२।५१।। २।१।१।। ३।१।७।। ४।१।३।। ५।२।६४।। ८।२।८३।।

आगम का विधान नहीं किया, वहां भी षुक्विशिष्ट का प्रयोग देखा जाता है। अतः निष् स्वतन्त्र धात्वन्तर है। उसी से विना षुक् आगम के भी **नेष्ट्रा** रूप उपपन्न हो जायेगा।

काशिकाकार ने (३।१।८५) '**इन्द्रो वस्तेन नेषतु**' में 'सिप्' और 'शप्' दो विकरणों की कल्पना की है। निष धात्वन्तर स्वीकार करने पर दो विकरणों की कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहती।

आदेशरूप धात्वन्तर—वैयाकरणों ने अनेक स्थानों पर धातुओं के स्थान में आदेशों का विधान किया है। यथा—**पाघ्राध्मास्था** आदि के स्थान में शित् प्रत्यय परे **पिब जिघ्र धम तिष्ठ** आदि आदेश (द्र०—अ० ७।३।७८)। इनमें आदेशरूप से पठित शब्द स्वतन्त्र धात्वन्तर हैं। उदाहरणार्थ–ध्मा को धम आदेश। निरुक्त १०।३१ में **मधुर्धमतेर्विपरीतस्य** तथा उणादिसूत्र **अर्तिसृधृधम्यम्यशिभ्यो-ऽनिः** (उ० २।७५) में '**धम**' का स्वतन्त्र धातुरूप में प्रयोग किया है। क्षीरस्वामी ने 'ध्मा' धातु (क्षीरत० १।६५६) के व्याख्यान में लिखा है—**धमिः प्रकृत्यन्तरमित्येके। यथा–धान्तो धातुः पावकस्यैव राशिः।** रामायण सुन्दरकाण्ड (६७।१२) में स्वतन्त्र धातु के रूप में लृट् लकार में प्रयोग मिलता है—**विधमिष्यामि जीमूतान्।**

इसी प्रकार **अश्नोते रश च** (उ० २।७५) में आदेशरूप से निर्दिष्ट रश भी स्वतन्त्र धातु है। महाभाष्यकार कहते हैं—**रशिरस्माया-विशेषेणोपदिष्टः। स राशिः रशना इत्येवं विषयः** (महा० ७।१।९६)।

वर्णविकार से निष्पन्न धात्वन्तर—वैयाकरण जिन धातुओं में वर्णविकार करके शब्द की सिद्धि करते हैं, वहां उपादीयमान धातु में वर्णविकार कर लेने पर जो रूप निष्पन्न होता है, वह धात्व-न्तर माना जाता है। यथा 'गृभ्णाति' प्रयोग के लिये वैयाकरण **हृग्रहो र्भश्छन्दसि हस्य** (अ० ८।२।३२) वार्तिक द्वारा 'ग्रह' धातु के हकार को भकार और सम्प्रसारण करके '**गृभ**' रूप बनाते हैं। निरुक्तकार यास्क ने **गर्भो गृभेः** (नि० १०।२३) निर्वचन में 'गृभ' धातु को स्वतन्त्र धातु मानकर गृभ से गर्भ का निर्वचन दर्शाया है। इसी प्रकार ग्रह धातु को सम्प्रसारण करने पर जो '**गृह**' रूप बनता है, उसे न्यायसंग्रह पृष्ठ १४९ में स्वतन्त्र धातु माना है।

वर्णविपर्ययरूप धात्वन्तर—वैयाकरण तथा नैरुक्त सिंह आदि

शब्दों का निर्वचन **हिंस** (हिसि हिंसायाम्) धातु में आद्यन्त-विपर्यय करके दर्शाते हैं। यथा--**कृतेस्तर्कुः, कसेः सिकताः, हिंसेः सिंहः** (महा० ३।१।१२३), **सिंहः सहनात्, हिंसेर्वा स्याद्विपरीतस्य** (निरु० ३।१८)। इस प्रकार वर्णविपर्यय करने पर धातु का जो रूप निष्पन्न होता है, वह स्वतन्त्र धातु माना जाता है। अतएव काशकृत्स्न धातु-पाठ में 'हिंस' से सिंह' का अन्वाख्यान न करके **षिहि** (=**सिंह**) **हिंसागत्योः** (धातुसूत्र १।३१६) रूप स्वतन्त्र धातु से सिंह आदि पदों का अन्वाख्यान किया है।

धातुगत आगम आदेश वर्णविकार के करने पर जो रूप निष्पन्न होता है, वह स्वतन्त्र धात्वन्तर है। इस विषय में हमने कतिपय प्रमाण दर्शाये हैं। इसी प्रकार प्रातिपदिक रूप प्रकृति में भी आगम आदेश वर्णविकार आदि से निष्पन्नरूप प्रकृत्यन्तर रूप प्रातिपदिक के जानने चाहियें।

महाभाष्यकार ने प्रकृत्यन्तर कल्पना का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र भी लिखा है। वे लिखते हैं—

'कथमुपबर्हणम्? बृहिः प्रकृत्यन्तरम्। कथं ज्ञायते-बृहिः प्रकृत्यन्तरमिति? अचीति हि लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते–निबृह्यते। अनिटीति चोच्यते, इडादावपि दृश्यते— निर्बर्हिता, निर्बर्हितुम् इति। अजादावपि न दृश्यते—बृंहयति, बृंहकः इति। महा० १।१।४ ॥

अर्थात्—[यदि सूत्र के विषय का परिगणन नहीं करते, तो] 'उपबर्हण' [में नुम् का लोप होने पर गुण का अभाव] कैसे उपपन्न होगा? 'बृह' (=नुम्रहित) प्रकृत्यन्तर है। कैसे जाना जाता है [कि बृह प्रकृत्यन्तर है]? अजादि प्रत्यय परे रहने पर [**बृंहेरच्यनिटि** (अ० ६।४।२४) वार्तिक से नुम् का] लोप कहा है, वह हलादि प्रत्यय परे भी देखा जाता है—**निबृह्यते**। इडादि प्रत्यय परे [नुम्-लोप का] निषेध कहा है, पर इडादि प्रत्यय परे [नुम् का लोप] देखा जाता है—**निर्बर्हिता, निर्बर्हितुम्**। अजादि प्रत्यय परे [नुम् लोप का विधान होने पर भी लोप] नहीं देखा जाता है—**बृंहयति, बृंहकः**।

इस संदर्भ को धातुपाठ में **'बृहि वृद्धौ'** पाठ के प्रकाश में विचारने पर स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरणशास्त्र के नियमों के द्वारा जिस निमित्त के होने पर जो कार्य किसी प्रकृति में कहा गया है, वह

उस निमित्त के अभाव में भी यदि कहीं देखा जाये, और जहां कार्य कहा है वहां भी न देखा जाये, तो जानना चाहिये कि वे रूप भिन्न अनुपदिष्ट प्रकृति से निष्पन्न हैं।

अब हम कतिपय उन प्रातिपदिक रूप प्रकृत्यन्तरों का निर्देश करते हैं, जहां शास्त्रकारों ने लोपागम वर्णविकार आदेश आदि कहा है, पर उनसे निष्पन्न रूप प्रकृत्यन्तर माने जाते हैं—

हेमन्—हेमन्त के तकार का लोपरूप। द्र०—महा० ४।३।२२ ॥

त्मन्—आत्मन् के आकार का लोप 'टा' तृतीयैकवचन में कहा है—**मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः** (अ० ६।४।१४१)। वेद में तृतीयैकवचन से अन्यत्र भी 'त्मन्' स्वतन्त्र प्रकृति के रूप देखे जाते हैं। यथा—**त्मन्** (ऋ० ४।४।९ इत्यादि), **त्मनम्** (ऋ० १।६३।८), **त्मनि** (ऋ० १।१५८।४ इत्यादि), **त्मने** (ऋ० १।११४।६ इत्यादि), **त्मन्या** (ऋ० १।१८८।१० इत्यादि)।

सुधातक, व्यासक, वरुडक, निषादक, चण्डालक, बिम्बक—सुधातृ आदि में अकङ् आदेश से निष्पन्न रूप प्रकृत्यन्तर। द्र०—महा० ४।१।९७ ॥

पृण मृण—श्ना प्रत्यय को ह्रस्व रूप में। महा० ३।१।७८ ॥

पीतक—कन् प्रत्यय सहित के रूप में, विना कन् प्रत्यय के। महा० ४।२।२ ॥

तैल—विकारार्थ प्रत्ययान्त के रूप में, विना विकारार्थ प्रत्यय के। महा० ५।२।२९ ॥

शीर्षन्—आदेश रूप में निर्दिष्ट विना आदेश के। महा० ६।१।१० ॥

सपत्न—स्त्रीलिङ्ग में विहित नकारादेश के विना। महा० ६।३।३५ ॥

प्रकृत्यन्तर-कल्पना के कुछ निदर्शन उपस्थित करके अब हम अष्टाध्यायी के कतिपय सूत्रों की इसी भाषाविज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या उपस्थित करते हैं। जिससे पाणिनीय व्याकरण की भाषाविज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप समझने में सुकरता होगी।

पाणिनि का सूत्र है—**मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च**। ४।१।१६१ ॥

वैयाकरण इसका अर्थ करते हैं—षष्ठी समर्थ (=षष्ठचन्त) 'मनु' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'अञ्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं, यदि जाति अर्थ जाना जाए, तथा प्रत्यय के साथ मनु प्रातिपदिक को 'षुक्' (अन्त में षकार) का आगम होता है। यथा—मनु की अपत्य रूप जाति—मानुष और मनुष्य।

प्रश्न होता है कि **मनु** शब्द में षकार नहीं है, तब उससे निष्पन्न मानुष और मनुष्य में कहां से और किस प्रकार षकार आया ? साम्प्रतिक वैयाकरणों के पास इसका कोई उत्तर नहीं। इसका यथार्थ उत्तर हमारी वैज्ञानिक व्याख्या ही दे सकती है।

वैज्ञानिक व्याख्या—संस्कृतभाषा में **मानव मानुष** और **मनुष्य** तीन प्रायः सदृश एकार्थक शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनकी परस्पर में तुलना करने से विदित होता है कि **मानव** और **मानुष** के आदि (प्रकृति) भाग में कुछ भिन्नता है, और अन्त्य (प्रत्यय) भाग '**अ**' समान है (स्वर की दृष्टि से अण् और अञ् दो प्रत्यय होते हैं, परन्तु '**अ**' अंश दोनों में समान है)। मानुष और मनुष्य के आदि (प्रकृति) भाग में समानता (प्रत्यय-निमित्तक वृद्धि कार्य की उपेक्षा करके) है, और अन्त्य (प्रत्यय) भाग में विषमता है। इस **अन्वयव्यतिरेक**रूपी तुलना से स्पष्ट है कि इन तीनों शब्दों की एक **मनु** प्रकृति नहीं हैं। मानव की प्रकृति **मनु** है। और मानुष तथा मनुष्य की षकारान्त **मनुष्**। इस अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध तत्त्व के प्रकाश में इस सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या होगी—

षष्ठचन्त **मनु** प्रातिपदिक से जाति-विशिष्ट अपत्य अर्थ में अञ् और यत् प्रत्यय होते हैं, तथा मनु को षुक् (अन्त में षकार) का आगम होता है। अर्थात्—मनु के अन्त में षकार का योग करके मूल प्रकृति भूत **मनुष्** रूप प्रातिपदिक बनाकर (=प्रकृत्यन्तर की कल्पना करके) उससे अञ् और यत् प्रत्यय करो।

इस व्याख्या के अनुसार प्रत्यय-विधान साक्षात् मनु से न होकर मनुष् से होगा। सूत्रकार ने लोकविज्ञात 'मनु' का निर्देश लुप्त 'मनुष्' शब्द का अर्थज्ञान कराने के लिए किया है।

प्रकृत्यन्तर कल्पना का लाभ—हमारी व्याख्या के अनुसार जो '**मनुष्**' प्रकृत्यन्तर की कल्पना की गई है, उसका एक लाभ यह भी

है कि उससे निष्पन्न तथा पाणिनि से अविहित शब्दों का भी साधुत्व उत्पन्न हो जाता है। पाणिनि की वर्तमान व्याख्या के अनुसार 'मानुष' शब्द का प्रयोग **मानव जाति** रूप अर्थ से अन्यत्र नहीं हो सकता। परन्तु हमारी व्याख्यानुसार जब पाणिनि स्वतन्त्र '**मनुष्**' प्रकृति के अस्तित्व का ज्ञापन कर देते हैं, तब उस स्वतन्त्र 'मनुष्' प्रकृति से अन्य अर्थों में भी यथाविहित प्रत्यय होकर **तस्य इदम्** आदि अर्थों में भी मानुष शब्द का साधुत्व उत्पन्न हो जाता है। जातिरूप अपत्य अर्थ से अन्यार्थ में मानुष का प्रयोग प्रायः उपलब्ध होता है। यथा—

मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। शत० १।४।४।१ ॥

भोगांश्चातीव मानुषान्। महा० उद्योग ६०।६६ ॥

यहां मनुष्य सम्बन्धी **तस्येदम्** (४।३।१२०) अर्थ में मानुष पद प्रयुक्त है।

मनुष् प्रकृति का सद्भाव—हमने अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा जिस 'मनुष' प्रकृति की कल्पना की है, वह शशशृङ्गाय-माण नहीं है। मनुष् षकारान्त प्रकृति वेद में बहुधा व्यवहृत है। इतना ही नहीं, मनुष्य की प्रकृति '**मनुष्**' है, ऐसा यास्क ने भी माना है। यास्क का लेख है—

'**मनुष्यः कस्मात्**......**मनोरपत्यं मनुषो वा**।' निरुक्त ३।२॥

मनुष अकारान्त—षकारान्त मनुष् प्रकृति का सद्भाव ऊपर दर्शा चुके। वेद में **मनुष** अकारान्त शब्द भी बहुत्र उपलब्ध होता है। अकारान्त मनुष भी आद्युदात्त है।

सुगागम द्वारा सान्त प्रकृति का निर्देश—संस्कृतभाषा में अनेक ऐसे शब्द हैं, जो सम्प्रति अकारान्त इकारान्त उकारान्त ही माने जाते हैं, परन्तु वे प्राचीन भाषा में सकारान्त (षकारान्त) भी प्रयुक्त होते थे (मनु और मनुष् का उदाहरण पूर्व व्याख्यात हो चुका है)। इस तथ्य का व्यापक ज्ञापन क्यच् प्रत्यय परे '**सर्वप्रातिपदिकेभ्यः सुग्वक्तव्यः**' (अ० ७।१।५१) वार्तिक से होता है। इसके सर्वसम्मत उदाहरण हैं - **दधिस्यति, मधुस्यति** आदि।

हमारे विचार में **दधिस्यति मधुस्यति** अपपाठ हैं। सुक् के

पूर्वन्ति होने से षत्व होकर **दधिष्यति मधुष्यति** शुद्ध रूप होना चाहिए। तुलना करो—**मधुषा संयौति** (तै० सं० २।४।९) ।

सुगागम के द्वारा सान्त (षान्त) प्रकृत्यन्तर के सद्भाव के सामान्य ज्ञापक से अनायास ही शतशः शब्दों के दो-दो स्वतन्त्ररूप ज्ञात हो जाते हैं ।[1] इसी तत्त्व का विपरीत प्रक्रिया से ज्ञापन पाणिनि के **कर्तुः क्यङ् सलोपश्च** (अ० ३।१।११) सूत्रस्थ **सलोपो वा** वार्तिक से भी होता है । तदनुसार **पयस्यते, पयायते; यशस्यते, यशायते** द्वारा पयस् यशस् सान्तों का सकार रहित **पय यश** प्रकृत्यन्तर का भी सद्भाव ज्ञात हो जाता है । अतएव चरक का (सूत्र स्थान ११।१९) **नीरजस्तमाः** (तम अकारान्त का)प्रयोग भी उपपन्न हो जाता है । इसी प्रकार का कात्यायन का वार्तिक है—**नयतेः षुक् च** (अ० ३।२।१३५) । इस वार्तिक के द्वारा नेष्ट्रा शब्द में 'नी' को (गुण करके) षुक् आगम का विधान किया है । यह षुगागम का विधान निष् प्रकृत्यन्तर का ज्ञापक है । यह हम पूर्व(भाग ३, पृष्ठ २३-२४)विस्तार से दर्शा चुके हैं ।

पाणिनि का सूत्र है—**कन्यायाः कनीन च** । अ० ४।१।११६॥

इसका अर्थ किया जाता है—षष्ठी समर्थ (षष्ठ्यन्त) 'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है, और कन्या को कनीन आदेश हो जाता है । कन्या (कुंवारी) का पुत्र=कानीन ।

यहां पर यह विचारणीय है कि 'कन्या' का 'कानीन' से दूर का भी सम्बन्ध नहीं । कन्या से अण् होकर **कान्य** प्रयोग होना चाहिये । कानीन की प्रकृति तो 'कनीना' ही हो सकती है ।

वैज्ञानिक व्याख्या—पाणिनि के उक्त सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या होगी—'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है, और कन्या के स्थान पर 'कनीन' (प्रातिपदिकमात्र, स्त्रीत्व-विवक्षा में

---

१. इस नियम के अनुसार 'अग्निस्' भी स्वतन्त्र शब्द है । इसी सान्त शब्द के अपभ्रंश इण्डोयोरोपियन भाषाओं में 'इग्निस्' 'उङ्निस्' आदि विविध रूपों में मिलते हैं । इन्हें संस्कृत के सुप्रत्ययान्त 'अग्निस्' का अपभ्रंश मानना चिन्त्य है । क्योंकि इण्डोयोरोपियन भाषाओं में सान्त शब्द प्रातिपदिक के रूप में माना जाता है ।

'कनीना') आदेश होता है। अर्थात्—कन्या अर्थवाले **कनीना** (स्त्रीत्व विशिष्ट) प्रकृति से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, ऐसा जानना चाहिये। कन्यावाचक **कनीना** पद वैदिक साहित्य में बहुत्र उपलब्ध होता है। तै० आ० १।२७।६ में कनीना का दूसरा रूप **कनीनी** भी प्रयुक्त है। दोनों मध्योदात्त कनीन प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में टाप् और ङीप् होकर निष्पन्न होते हैं।

कनीना प्रकृति-कल्पना का लाभ—पाणिनि के उक्त सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या करने से कन्या अर्थ में जो 'कनीना' प्रकृति का सद्भाव ज्ञापित होता है, उसके प्रकाश में अवेस्ता के **'हओमयश्त'** ९।२३ का पाठ पढ़िए—**ह ओमा तास् चित् या कइनीना** (संस्कृत सोमः ताश्चित् याः कनीना ··) इसमें पठित 'कइनीना' 'कनीना' का ही अपभ्रंश है, यह स्पष्ट है। कनीना के अज्ञान में इसका सम्बन्ध 'कन्या' से समझा जाएगा, जो कि सर्वथा अयुक्त है। इससे स्पष्ट है कि वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा लुप्त प्रकृतियों का उद्धार करने से भाषा-वैज्ञानिकों को भाषाओं की पारस्परिक तुलना के लिए एक नई दृष्टि और विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध हो जाता है।

इसी प्रकार का पाणिनि का अन्य सूत्र है—**तवकममकावेकवचने** (अ० ४।३।३) इससे एकवचनान्त युष्मद् अस्मद् के स्थान में खञ् प्रत्यय के परे तवक-ममक आदेश होते हैं। **तव इदं तावकीनम्, मम इदं मामकीनम्।** वस्तुतः ये आदेशरूप से उपदिष्ट तवक ममक प्रकृत्यन्तर हैं। ऋग्वेद १।३१।११ में **ममकस्य**, तथा ऋ० १।३४।६ में **ममकाय** प्रयोग उपलब्ध होते हैं।

वार्तिककार का एक वार्तिक है—**हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य** ८।३।३५॥

अर्थात्—'हृ' और 'ग्रह' (=गृह्) के हकार को भकार होता है। भरति, गृभ्णाति। यहां प्रथम विचारणीय है—'हृ' के 'ह' को 'भ' करने की आवश्यकता ही क्या है? जब कि स्वतन्त्र 'भृ' धातु का धातुपाठ में सर्वसम्मत पाठ उपलब्ध है। यदि कहा जाए कि धातुपाठ पठित 'भृ' का हरण अर्थ नहीं है, यह भी कहना तुच्छ है। वैयाकरणों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि धातुपाठ में लिखित अर्थ उपलक्षणमात्र हैं, धातु बह्वर्थक होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भृ का हरण अर्थ स्वीकार किया जा सकता है।

वैज्ञानिक व्याख्या—'हृ' के हकार को भकार होकर जो 'भृ' रूप होता है, उसका अर्थ वह भी है, जो 'हरति' का है। इसी प्रकार ग्रह (गृह) के हकार को भकार रूप होकर जो गृभ रूप निष्पन्न हो जाता है, वह गृह्णात्यर्थक स्वतन्त्र धातु है।[1]

इस प्रकार की व्याख्या करने से 'भृ' के हरणरूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है। और ग्रह (गृह) के वर्ण-परिवर्तन से स्वतन्त्र गृभ धातु का परिज्ञान होता है। इस गृभ धातु के प्रयोग वेद में तो उपलब्ध होते ही हैं, यास्क भी गर्भ शब्द का निर्वचन इसी धातु से दर्शाता है—

'गर्भो गृभेः गृणात्यर्थे'।[2] निरुक्त १०।२३ ॥

अर्थात्—गर्भ 'गृणाति'[2] (शब्द) अर्थ में वर्तमान 'गृभ' धातु से निष्पन्न होता है।

पाणिनि का समासान्त विधायक एक सूत्र है—**राजाहस्सखिभ्यष्टच्**। अ० ५।४।९१ ॥

इसका अर्थ है—राजन् अहन् और सखि शब्द जिसके अन्त में हों, ऐसे तत्पुरुष समास से 'टच्' प्रत्यय होता है। टच् प्रत्यय होने पर पाणिनीय नियम के अनुसार 'अन्' भाग का लोप होता है, और रूप बनता है—**मद्रराजः, काशीराजः; द्व्यहः, त्र्यहः**।

इस व्याख्या के अनुसार **नागराज्ञा** (महा० आदि० १६।१३); **सर्वराज्ञाम्** (आदि० २।१०२); **काशीराज्ञे**(भासनाटकचक्र पृष्ठ १८७): महाराजानम् (भास, यज्ञफल, पृष्ठ २८) आदि शतशः प्रयुक्त शब्दों का साधुत्व उपपन्न नहीं होता। पाणिनि ने भी **षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि**

---

१. इसी प्रकार **ग्राहक** आदि में ग्रह की उपधा को दीर्घत्व द्वारा निर्दशित **'ग्राह'** भी स्वतन्त्र धातु है। देखिए महाभारत वन० १३२।४ का 'निजग्राहतुः' प्रयोग।

२. यहां पाठभ्रंश हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। 'गृह्णात्यर्थे' पाठ होना चाहिए। क्योंकि वेद में 'गृभ' धातु का प्रयोग 'ग्रह' धातु के अर्थ में मिलता है। स्वयं यास्क ने भी आगे 'यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति ....' वाक्य में गृह्णाति का ही प्रयोग किया है।

(अ० ६।४।१३५) सूत्र में नकारान्त 'धृतराजन्' शब्द का प्रयोग किया है।[1]

वैज्ञानिक व्याख्या—इस व्याख्या के अनुसार उक्त सूत्र का अर्थ होगा–राजन् अहन् और सखि शब्द जिनके अन्त में हों, ऐसे तत्पुरुष समास से 'टच्' प्रत्यय होता है। अर्थात् टच् प्रत्यय करने पर **अन्** और **इ** भाग का लोप, और प्रत्यय के **अ** के मेल से जो अकारान्त **राज अह सख** शब्द निष्पन्न होते हैं, उनसे निष्पन्न **मद्रराज काशीराज महाराज द्व्यह त्र्यह आदि** समस्त शब्द हैं। दूसरे शब्दों में नकारान्त सदृश अकारान्त जो **राज** और **अह** स्वतन्त्र प्रकृतियां हैं, उन्हीं से निष्पन्न मद्रराज और द्व्यह आदि शब्द हैं।

वैज्ञानिक व्याख्या का लाभ—इस व्याख्या का भारी लाभ यह है कि अकारान्त और नकारान्त भेद से दो स्वतन्त्र शब्दों की सत्ता ज्ञात होने पर प्राचीन वाङ्मय में बहुधा प्रयुक्त नकारान्त समस्त (काशीराज्ञे आदि) शब्दों का साधुत्व तो अनायास प्रकट हो ही जाता है, साथ में विना समास के अकारान्त राज अह शब्दों का प्रयोग भी हो सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे कतिपय विरल प्रयोग सुरक्षित भी हैं। यथा

अकारान्त राज शब्द—राजाय प्रयतेमहि (महा० आदि पर्व ९४। ४४)।

अकारान्त अह शब्द—तन्त्राख्यायिका २।१३६ में उद्धृत प्राचीन वचन है—

'यस्मिन् वयसि यत्काले यदहे चाथवा निशि।'

पाणिनि नियमानुसार द्व्यह त्र्यह प्रयोग तत्पुरुष समास में ही होता है, परन्तु रामायण १।१४।४० के **त्र्यहोऽश्वमेधः** वचन में बहुव्रीहि में भी अकारान्त की प्रवृत्ति देखी जाती है। पाली व्याकरण

---

१. संवत् १९३९ श्रावण वदी ४ को शाहपुराधीश को लिखे गये पत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—'**श्रीयुत महाराजाधिराजभ्यो धीरवीर**.........'। ऋ० द० पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३४० (द्वि० सं०)। यहां समास होने पर भी नकारान्त राजन् शब्द का प्रयोग किया है। समासान्त प्रत्यय नहीं किया।

के अनुसार 'राजन्' शब्द की कतिपय विभक्तियों में नकारान्त और अकारान्त दोनों के रूप प्रयुक्त होते हैं। यथा—द्वि० ए०—**राजानम्, राजम्**। तृ० ए०—**रज्जा, राजेन**। स० ब०—**राजेसु**।

प्राचीन आचार्यों का एक वचन है—**विभाषा समासान्तो भवति** (समासान्तविधिरनित्यः—पाठा०)। इस वचन का वास्तविक भाव यही है कि समासान्त प्रत्यय करने पर लोकप्रसिद्ध उत्तर पद का जो स्वरूप निष्पन्न होता है, उस अप्रसिद्ध शब्द और लोकप्रसिद्ध दोनों प्रकार के शब्दों से निष्पन्न समस्त प्रयोगों का साधुत्व जानना चाहिये। यथा—

सत्यधर्माय दृष्टये। ईशोप० में अकारान्त धर्मशब्द।

सत्यधर्माणमध्वरे। ऋ० १।१२।४ में नकारान्त धर्मन् शब्द।

इसी नियम के अनुसार नकारान्तरूप से प्रसिद्ध **कर्मन्** शब्द अकारान्त (**कर्म**) भी देखा जाता है। ऋ० १०।१३०।१ में **देवकर्मभिः** प्रयोग अकारान्त कर्म शब्द का ही है।

इसी प्रकरण का दूसरा सूत्र है—**ऊधसोऽनङ्** (अ० ५।४।१३१)। इस से 'ऊधस्' को समासान्त 'अनङ्' आदेश करके जो '**ऊधन्**' शब्द-रूप बनाया जाता है, उसके (=ऊधन् के) **बिना समास के अनेक विभक्तियों के रूप वेद में उपलब्ध होते हैं**।

इस व्याख्या के अनुसार सारा समासान्त-प्रकरण **द्विविध प्रकृतियों** (विना समासान्त के जो शुद्ध रूप है, और समासान्त करने पर शास्त्रीय कार्य होकर जो रूप निष्पन्न होता है) का बोधक है। इस प्रकार केवल एक समासान्त-प्रकरण से ही शतशः शब्दों के मूलभूत दो-दो रूपों का परिज्ञान हो जाता है।

नञ् समास में अब्राह्मणः अनश्वः नपात् आदि तीन प्रकार के प्रयोगों के साधुत्व के लिए **नलोपो नञः, तस्मान्नुडचि, नभ्राण्नपान्नवेद०** (अ० ६।३।७२, ७३, ७४) तीन नियम पाणिनि ने लिखे हैं—प्रथम नियम के अनुसार नञ् के नकार का लोप होता है। द्वितीय से अजादि उत्तरपद को नलोपीभूत अकार से परे नुट् का आगम कहा है, और तृतीय नियम से कुछ शब्दों में न लोप का अभाव दर्शाया है। वस्तुतः ये नियम निषेधार्थक **अ अन् न** इन तीन अव्ययों की सत्ता

का बखान करते हैं। निषेधार्थक **अ** निपात का प्रयोग चादिगण में, और अव्यय का निरूपण कोशों में उपलब्ध होता है। स्वामी दयानन्द ने अव्ययार्थ में लिखा है—**अ अभावे**। **अराजके तु लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्** (**मनु ७।३**)। सामपदकार गार्ग्य ने भी **अ** को स्वतन्त्र निषेधार्थक अव्यय मानकर अवग्रह द्वारा **अ** की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। यथा - **अरातेः—अ रातेः** (१।१।१।६), **अमित्रम्—अ मित्रम्** (१।१।२।१), अमृतम्—अ मृतम् (१।१।४।१)।

इसी प्रकार पदकार गार्ग्य ने अजादि उत्तरपद को नुट् का जहां आगम होता है, वहां न् को पूर्वान्वयी मानकर **अन्** के साथ अवग्रह दर्शाया है।

२—**प्रत्ययान्तर सद्भाव की कल्पना**—जैसे प्रकृति में लोप आगम वर्णविकार आदि के निर्देश से प्रकृत्यन्तर का सद्भाव ज्ञापित होता है, उसी प्रकार प्रत्ययों में भी लोप आगम आदेश द्वारा प्रत्ययान्तर का सद्भाव द्योतित होता है। यथा—

पाणिनि ने **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (अ० ७।१।३७) सूत्र द्वारा समास में 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' का विधान किया है। यह 'ल्यप्' स्वतन्त्र प्रत्ययरूप में भी प्रयुक्त देखा जाता है। यथा—

संध्यावधूं गृह्य करेण भानुः। पाणिनीय जाम्बवती विजय।
आज्येनाक्षिणी अज्य। आश्वलायन श्रौत ५।१९।६॥
शुचौ देशे स्थाप्य। पारस्कर परिशिष्ट स्नानसूत्र।
अर्च्य तान् देवान् गतः। काशिका ७।३।३८ में उद्धृत।
उष्य। रामायण १।२७।१॥
दृश्य। रामायण १।४८।११।

पाणिनि ने ङित् लकारों में तस् थस् थ मिप् के स्थान में **ताम् तम् त अम्** (अ० ३।४।१०१) आदेश कहे हैं। महाभाष्यकार इस के विषय में कहते हैं—

'**एकार्थस्यैकार्थः, द्व्यर्थस्य द्व्यर्थः, बह्वर्थस्य बह्वर्थो यथा स्यात्**।' अ० १।१।४९॥

अर्थात्—एक अर्थवाले 'मिप्' के स्थान में एक अर्थवाला 'अम्' दो अर्थवाले 'तस् थस्' के स्थान में दो अर्थवाले 'ताम् तम्', और बहुत अर्थवाले 'थ' के स्थान में बहुत अर्थवाला 'त' हो जायेगा।

यहां यह विचारणीय है कि जब तक ये आदेश किसी के स्थान में नहीं होते, तब तक पाणिनीय मतानुसार इनमें अर्थवत्ता ही उपपन्न नहीं होती। तब भाष्यकार ने आदेशों की अर्थवत्ता कह कर अर्थ-सादृश्य से स्थान्यादेश भाव का नियमन कैसे उदाहृत किया ? इससे जाना जाता है कि भाष्यकार की दृष्टि में अन्य कोई प्राचीन ऐसा व्याकरण था, जिसमें डित्‌लकारों में स्वतन्त्र रूप से इन्हें प्रत्यय माना था। तन्निबन्धक अर्थवत्ता को ध्यान में रखकर भाष्यकार ने पाणिनीय मतानुसार आदेशरूप प्रत्ययों की अर्थवत्ता का निर्देश किया।

इस प्रकार आदेशरूप में कहे गये प्रत्ययादेश स्वतन्त्र प्रत्यय हैं, यह जानना चाहिये। इसी प्रक्रिया के अनुसार आर्ष ग्रन्थों के वे प्रयोग, जहां समास होने पर भी क्त्वा को ल्यप् नहीं होता, और विना समास के भी ल्यप् के रूप देखे जाते हैं, सरलता से उपपन्न हो जाते हैं।

३—गणकार्य का उपलक्षणत्व—पाणिनि ने स्वीय शास्त्र के उपदेश के लिये दो प्रकार के गण पढ़े हैं। एक—धातुगण, और दूसरा प्रातिपदिकगण। धातुगणों का समूह 'धातुपाठ' के नाम से प्रसिद्ध है, और प्रातिपदिक गणों का समूह 'गणपाठ' के नाम से।

धातुपाठ में समस्त धातुएं १० गणों में व्यवस्थित की गई हैं। यह व्यवस्था विकरण-प्रत्ययों की दृष्टि से की गई है। उक्त गण-व्यवस्था प्रायिक है। इसका निर्देश स्वयं पाणिनि ने धातुपाठ के अन्त में **बहुलमेतन्निदर्शनम्** (१०।३६६) सूत्र द्वारा कर दिया है। यदि पाणिनि के अनुसार इनका प्रायिकत्व स्वीकार कर लिया जाये, तो वेद में अनेक स्थानों पर छान्दस विकरण-व्यत्यय मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

आधुनिक वैयाकरण इन गणों के विभागों को पूर्ण व्यवस्थित मानकर प्रयोग करने का आग्रह करते हुए पाणिनीय गणविशेष में पठित पाठ की भी उपेक्षा करते हैं। यथा—

पाणिनि का सूत्र है—**श्रुवः शृ च** (अ० ३।१।७४)। इसका अर्थ है—श्रु धातु से श्नु प्रत्यय होता है, और श्रु को शृ आदेश हो जाता है। यद्यपि व्याख्या ठीक है, परन्तु आधुनिक वैयाकरण श्रु धातु का **शृणोति** प्रयोग ही साधु मानते हैं। इन वैयाकरणों से पूछना चाहिये कि

पाणिनि ने श्रु धातु को भ्वादि में पढ़कर श्नु विकरण और शृ आदेश का विधान क्यों किया ? यदि 'शृणोति' ही रूप बनाना है, तो 'श्रु' को स्वादिगण में पढ़ा जा सकता था, और श्नु प्रत्यय सरलता से प्राप्त हो सकता था। केवल 'शृ' आदेशमात्र के विधान की आवश्यकता रहती है।

अब यदि पाणिनीय पाठ को ध्यान में रखा जाये, तो मानना होगा कि श्रु धातु के भ्वादिपाठ-सामर्थ्य से **श्रवति श्रवतः श्रवन्ति** रूप भी साधु हैं। वेद में तो **श्रवति** आदि प्रयोग बहुधा उपलब्ध भी होते हैं। इतना ही नहीं, धात्वादेश रूप से पठित शब्द स्वतन्त्र धातु रूप है, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं। तदनुसार श्रवणार्थक 'शृ' भी स्वतन्त्र धातु है।[1]

लोक में एक से अधिक विकरणों का सहप्रयोग—हमने ऊपर कहा है कि पाणिनि ने गणों का विभाग विकरण-प्रत्ययों की दृष्टि से किया है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर एक विकरण-व्यवस्था बनती है। परन्तु वेद में कहीं दो विकरणों का, कहीं तीन विकरणों का सहभाव देखा जाता है। काशिकाकार ३।१।८५ की व्याख्या में लिखता है—

'क्वचिद् द्विविकरणता क्वचित् त्रिविकरणता च। द्विविकरणता—इन्द्रो वस्तेन नेषतु, नयत्विति प्राप्ते। त्रिविकरणता—इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्, तीर्यास्मेति प्राप्ते।'

---

१. सायण आदि भाष्यकारों ने **शृण्विरे शृण्विषे** को लिट् का प्रयोग माना है। हमारे विचार में यह अयुक्त है। पाणिनि ने **विदो लटो वा** (अ० ३।४।८३) से विद धातु से लट् में भी तिप् आदि के स्थान में **णल् अतुस् उस्** आदि आदेश कहें हैं। यदि इन आदेशों को लट् के भी स्थानापन्न प्रत्यय स्वीकार कर लिया जाये, तो **शृण्विरे शृण्विषे** में छान्दसत्वात् सार्वधातुकत्व मानकर श्नु आदि विधान की आवश्यकता नहीं रहती। साथ ही **'द्विर्वचन-प्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम्'** (अ० ६।१।८) वार्तिक की भी आवश्यकता नहीं होती। **जागार** आदि लौकिक **वेद विदतुः विदुः** प्रयोगों के समान लट् में उपपन्न हो जायेगा। 'जागार' का वर्तमानकालिक 'जागता है' अर्थ ही—**यो जागार तमृचः कामयन्ते** (ऋ० ५।४४।१४) में सम्बद्ध होता है।

अर्थात्—'नेषतु' में सिप् और शप् दो विकरण हुए हैं, और 'तरुषेम' में उ सिप् और शप् तीन विकरण।

काशकृत्स्न व्याकरण के अनुसार लोक में भी द्विविकरणता देखी जाती है। काशकृत्स्न भ्वादिगण में **शुची शूची चुची चूची अभिषवे।** (१।२।३०) धातुसूत्र पढ़ता है। इसकी व्याख्या में चन्नवीर कवि **दिवादेर्यन्** सूत्र उद्धृत करके उससे यन् (तथा भ्वादिपाठ से अन्) विकरण करके **शुच्यति शूच्यति चुच्यति चूच्यति** प्रयोग दर्शाये हैं। पाणिनि इस द्विविकरणता से बचने के लिए **शुच्य चुच्य अभिषवे** (१।३।४३) धातुसूत्र में यकार सहित धातु पढ़ता है।

इसी प्रकार काशकृत्स्न **उर्णुञ् आच्छादने** (२।६२) की टीका और उस पर हमारी टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

यदि दैवादिक श्यन् विकरण के '**य**' को धातुरूप में सम्मिलित करके द्विविकरणता हटाई जा सकती है, जैसा कि पाणिनि ने शुच्यादि में किया है, तो वेद में भी वैसी ही धात्वन्तर की कल्पना करना युक्त होगा। 'नेषतु' में निष धातु (यह रूप भाष्यकार को इष्ट है, यह हम पूर्व पृष्ठ २३ पर लिख चुके हैं) और 'तरुषेम' में कण्ड्वादिगणस्थ **उषस् प्रभातभावे** (११।६) के समान 'तरुष्' स्वतन्त्र धातु मानी जा सकती है। उस अवस्था में 'तरुषेम' में त्रिविकरणता की आवश्यकता नहीं होगी, 'श' विकरण से रूप निष्पन्न हो जायेगा। और यदि वेद में द्विविकरणता या त्रिविकरणता इष्ट है, तो लोक में भी इसे स्वीकार करके धातुशब्दों को अधिक संक्षिप्त बनाया जा सकता है। जैसे पाणिनि के शुच्य चुच्य का रूप काशकृत्स्न ने शुच चुच इतना ही माना है। उस अवस्था में शुच को धात्वन्तर रूप से पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

इसी गण कार्य के अन्तर्गत आत्मनेपद या इट् आदि के लिए पढ़े गए अनुबन्धों का निर्देश भी प्रायिक मानना चाहिये। आत्मनेपदार्थ अनुदात्तेत्व की प्रायिकता स्वयं पाणिनि ने **चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि** (२।७) में इकार और ङकार दो अनुबन्धों से दर्शाई है। इट् विधान की अनित्यता का ज्ञापन भी पाणिनि के **पतित** (अ० २।१।२३) आदि प्रयोगों से स्पष्ट है। इसी व्यवस्था का विचार करके हैम धातुपाठ के व्याख्याता गुणरत्न सूरि ने स्कन्द धातु पर लिखा है—**सर्वधातूनां**

बहुलं वेडित्यन्ये (पृष्ठ ६६)। उदात्त धातुओं के अनिट् के, तथा अनुदात्त धातुओं के सेट् के रूप प्राचीन आर्षवाङ्मय में प्रायः उपलब्ध होते हैं।

प्रातिपदिक गणों में कुछ ही गण ऐसे हैं, जिन्हें नियत माना जाता है, यथा—सर्वादीनि। अधिकतर गण तो प्रायः आकृतिगण ही हैं। परन्तु नियतगण समझे जानेवाले सर्वादि प्रभृति गणों में भी शब्दों का पाठ प्रायिक है। सर्वादिगण में **अन्यतम** शब्द का पाठ नहीं है। परन्तु आपिशलि और पाणिनि दोनों ही आचार्यों ने शिक्षा-ग्रन्थ के आठवें प्रकरण के प्रथम सूत्र में **'स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने'** प्रयोग में सर्वनाम संज्ञा मानकर प्रयोग किया है। जब नियत माने जानेवाले गण की ही यह स्थिति है, और वह भी आपिशलि और पाणिनि के मत में, तब अन्य गणों का प्रायिकत्व तो सुतरां सिद्ध है।

इससे स्पष्ट है कि धातुगण और प्रातिपदिक गणों के पाठों के प्रायिक होने से पाणिनि प्रभृति आचार्यों द्वारा साक्षात् अनुपदिष्ट किन्तु शिष्ट-प्रयुक्त प्रयोग साधु हैं, यह स्वीकार करना ही होगा।

४—पाणिनीय नियमों से असिद्ध पाणिनीय प्रयोग द्वारा नियमान्तर की कल्पना, अथवा नियमों का प्रायिकत्व द्योतित करना— इस प्रकरण में हम पाणिनि के कतिपय प्रयोगों के द्वारा यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि पाणिनि ने जिस विषय में जो नियम अष्टाध्यायी में लिखे हैं, उनके विपरीत जिन शब्दों का पाणिनि ने अपने सूत्रों में प्रयोग किया है, ऐसे कुछ प्रयोगों के द्वारा वैयाकरण कुछ नियमों का ज्ञापन करते हैं। यदि उसी प्रक्रिया को अधिक विस्तार दे दिया जाए, तो बहुविध अपाणिनीय शब्दों का साधुत्व अनायास अभिव्यक्त हो जाता है। हम इसके कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं—

सन्धिनियम—पाणिनि का प्रसिद्ध सूत्र है—**इको यणचि** (अ० ६।१।७४)। इसके द्वारा अव्यवहित अच् परे इक् को यणादेश होता है। इसी नियम के अनुसार भू आदयः=भ्वादयः प्रयोग होना चाहिये। परन्तु पाणिनि का वचन है—**भूवादयो धातवः** (अ० १।३।१)। यहां 'भू आदयः' के मध्य वकार का आगम या व्यवधान हुआ है। इस स्वनियम-विरुद्ध पाणिनीय प्रयोग से यदि **'अव्यवहित अच् परे रहने पर इक् से परे यण् का व्यवधान भी होता है'** इस नियमान्तर की कल्पना

करलें, तो संस्कृतभाषा के अनेक शब्दों की व्यवस्था सरलता से उपपन्न जाती है। भाषावृत्तिकार ने तो **इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोः** (६।१।७७) वचन उद्धृत करके **दधियत्र मधुवत्र** प्रयोगों का साधुत्व दर्शाया है। इतना ही नहीं, इस नियम को तो हम सूत्रारूढ़ भी बना सकते हैं। **इको यणचि** (अ० ६।१।७४) सूत्र को **हलन्त्यम्** के समान द्विरावृत्त मानकर यणादेश पक्ष में **इकः** को षष्ठी मानकर, और यण्व्यवधान पक्ष में **इकः** को पञ्चम्यन्त मानकर व्याख्या कर सकते हैं।

इस एक ही नियम की कल्पना करने पर संस्कृतभाषा पर जो व्यापक प्रभाव पड़ता है, उसकी संक्षिप्त मीमांसा हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय (प्रथम भाग, पृष्ठ २६–३०) में की है। पाठक इस प्रकरण को अवश्य देखें। क्योंकि उसका यहां पुनः लिखना पिष्टपेषण-मात्र होगा।

इसी प्रकार अन्य सन्धि-नियमों के सम्बन्ध में भी विचार किया जा सकता है।

विभक्ति-नियम—पाणिनि के विभक्ति-नियम के अनुसार 'पर' शब्द के योग में (२।३।२९ से) पञ्चमी विभक्ति होनी चाहिए। परन्तु पाणिनि ने **ऋहलोर्ण्यत्** (अ० ३।१।१२४) आदि में बहुत्र षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों के अनुसार यदि हम यह ज्ञापन करलें कि दिक्शब्दों के योग में षष्ठी का प्रयोग भी होता है, तो ऐसे अनेक शिष्ट प्रयोग, जिनमें 'पर' आदि दिक्शब्दों के योग में षष्ठी का निर्देश है, अञ्जसा साधु प्रयोग समझे जा सकते हैं। यथा— **एकादशिनोः परः**। ऋक्सर्वानुक्रमणी उपोद्घात। ५।५॥

हिन्दीभाषा में भी पूर्व पर शब्दों के योग में पञ्चमी और षष्ठी दोनों का प्रयोग होता है—ग्राम से पूर्व या परे, ग्राम के पूर्व या परे।

पाणिनि के **कर्तृकर्मणोः कृति** (अ० २।३।६५) के नियम से कृदन्त के प्रयोग में कर्म में षष्ठी होती है। परन्तु पाणिनि का स्व-प्रयोग है—**तद् अर्हम्** (अ० ५।१।११६)। यहां पाणिनि ने स्वनियम की उपेक्षा करके 'अर्हम्' के योग में 'तद्' द्वितीया का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि कृदन्त के योग में कर्म में द्वितीया का प्रयोग

भी हो सकता है। तदनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती का यजुर्वेद १।१२ के भाष्य में **ओषधि सेविका** प्रयोग साधु होगा।

वैयाकरणों का मत है कि किसी अर्थ में अथवा किसी उपपद को निमित्त मानकर एक से अधिक विभक्तियों का विधान किया गया हो, तो भी समान वाक्य में उन विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग साधु नहीं होता। महाभाष्यकार ने कहा—

'एकस्याकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति। तद्यथा गवां स्वामी अश्वेषु च।' ३।१।४० ॥

अर्थात्—एक आकृति से प्रारब्ध प्रयोग दूसरी और तीसरी आकृति से नहीं होता। यथा—**गवां स्वामी अश्वेषु च**।

स्वामी शब्द के योग में **स्वामीश्वराधिपतिदायाद०** (२।३।३९) से षष्ठी और सप्तमी दोनों का विधान होने पर भी **गवां स्वामी अश्वेषु च** प्रयोग साधु नहीं होता। **गवां स्वामी अश्वानां च** अथवा **गोषु स्वामी अश्वेषु च** ही प्रयोग साधु है।

वस्तुतः महाभाष्यकार का यह मत एकान्त सत्य नहीं है, अपितु प्रायिक है। प्राचीन ग्रन्थों में समानवाक्य में उक्त प्रकार के विभिन्न विभक्तियों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—शतपथ ब्राह्मण का पाठ है—**अनस एव यजूंषि सन्ति। न कौष्ठस्य, न कुम्भ्यै**। १।१।२।७ ॥

२—तैत्तिरीय संहिता का वचन है—**धेन्वै वा एतद् रेतो यदाज्यम्, अनुडुहस्तण्डुलाः**। २।२।६ ॥

३—तैत्तिरीय संहिता का दूसरा वचन है—**इदमहममुं भ्रातृव्यमाभ्यो दिग्भ्योऽस्यै दिवोऽस्मादन्तरिक्षात्**.......... । १।६।६ ॥

इन उदाहरणों में प्रथम दो में **षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या** (२।३।६२) वार्तिक से विहित चतुर्थी, और पक्ष में यथाप्राप्त षष्ठी दोनों का समान वाक्य में ठीक उसी प्रकार प्रयोग हुआ है (कौष्ठस्य कुम्भ्यै, धेन्वै अनुडुहः) जैसे प्रयोग का भाष्यकार ने प्रतिषेध किया है। तृतीय वाक्य में और भी अधिक वैशिष्ट्य है। उसमें **अस्यै दिवः** विशेषण विशेष्य में भी विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो साम्प्रतिक वैयाकरणों को सर्वथा असह्य है।

इससे यह स्पष्ट है कि पाणिनीय अनुशासन के नियम प्रायिक हैं।

लिङ्गनियम—पाणिनि ने अष्टाध्यायी और लिङ्गानुशासन में लिङ्ग का विधान किया है, परन्तु स्वयं पाणिनि ने अनेक प्रयोग स्व-नियमों के विपरीत किये हैं। यथा—

लिङ्गानुशासन का एक नियम है—**द्वन्द्वैकत्वम्** (नपुंसकाधिकार सूत्र ७)। इस नियम के अनुसार समाहारद्वन्द्व में नपुंसकलिङ्ग होना चाहिए, परन्तु पाणिनि का एक सूत्र है—**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** (अ० १।२।२७)। यहां समाहारद्वन्द्व में एक वचन तो है, परन्तु नपुंसकलिङ्ग के स्थान में पुँल्लिङ्ग का प्रयोग किया है। ऐसा ही एक प्रयोग **युवोरनाकौ** (अ० ७।१।१) में है। यहां समाहारपक्ष में नपुंसकलिङ्ग होने पर **युवुनः** होना चाहिए। यदि इतरेतरयोग मानें तो **युव्वोः** रूप का निर्देश युक्त होगा। वस्तुतः यहां नपुंसकलिङ्ग के स्थान में पुँल्लिङ्ग का प्रयोग जानना चाहिये।

समासनियम—समास के सम्बन्ध में पाणिनि ने विविध नियमों का विधान किया है। उनमें किस समास में किसका पूर्व प्रयोग होना चाहिये का भी विधान किया है। यथा—**अल्पाच्तरम्, द्वन्द्वे घि, अजाद्यदन्तम्** (अ०२।२।३४,३२,३३) आदि। परन्तु पाणिनीय सूत्रों में इन्हीं नियमों का उल्लङ्घन देखा जाता है। यथा—

क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ (अ०३।१।१३०) में अल्पाच्तर 'संचाय्य' का पूर्व योग नहीं किया है। उत्तर सूत्र **अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः** (अ०३।१।१३१) में अल्पाच्तर होने से 'समूह्य' का और अजादि अदन्त होने से 'उपचाय्य' का पूर्व प्रयोग होना चाहिए, परन्तु किया है 'परिचाय्य' का पूर्व प्रयोग।

इसी प्रकार **इको गुणवृद्धी** (अ०१।१।३) तथा **नाडीमुष्ट्योश्च** (अ०३।२।३०) में घिसंज्ञक 'वृद्धि' और 'नाडि' शब्द का पूर्वनिपात नहीं किया।

समास का प्रधान नियम है—**समर्थः पदविधिः** (अ०२।१।१)। इससे समर्थ पदों का ही समास होना चाहिए। परन्तु पाणिनि ने **सुडनपुंसकस्य** (अ०।१।१।४२) असमर्थ नञ्समास का प्रयोग किया है। ऐसे असमर्थ नञ्समास लोक में भी देखे जाते हैं। यथा—

'असूर्यपश्या राजदाराः, असूर्यपश्यानि मुखानि, अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः, अपुनर्गेयाः श्लोकाः ।' द्र०—महाभाष्य १।१।४१,४२॥

इनमें नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ है, उन पदों के साथ नहीं जिनके साथ समास हुआ है। इनके अर्थ हैं—सूर्य को न देखनेवाली रानियां, सूर्य को न देखनेवाले मुख, श्राद्ध न खानेवाला ब्राह्मण, पुनः न गाये जानेवाले श्लोक।

अब हम अन्त में एक ऐसे नियम का पाणिनीय शास्त्र से ज्ञापन दर्शाते हैं, जिसको हृदयङ्गम कर लेने पर वैदिक भाषा में अनेक छान्दस कार्यों के विधान की आवश्यकता ही नहीं रहती। इतना ही नहीं, यदि इस ज्ञापकसिद्ध नियम को स्वीकार कर लिया जाये, तो संस्कृत भाषा अतिशय सरल बन जाती है। वह नियम है—

(५) वक्ता के विशेष अभिप्राय का अन्य शब्द से बोध हो जाने पर अभिप्राय विशेष को प्रकट करनेवाले प्रत्यय आदि का अभाव। भाष्यकार ने तो अनेक स्थानों पर **उक्तार्थानामप्रयोगः**[1] कहकर इस नियम को स्वीकार किया है। अब इस विषय में पाणिनीय नियम पर विचार कीजिये।

पाणिनि का प्रसिद्ध नियम है—**विभाषोपपदेन प्रतीयमाने** (अ० १।३।७७)। इसका अर्थ है—स्वरित और ञित् धातुओं से कर्त्रभिप्रायक्रियाफल (कर्ता अपने लिए क्रिया कर रहा है इस अर्थ) में जो आत्मनेपद (१।३।७२ से) कहा है वह अर्थ यदि किसी उपपद (=समीपोच्चारित पद) से ज्ञात हो जावे, तो आत्मनेपद विकल्प से होता है। यथा—**देवदत्तः स्वमोदनं पचति, देवदत्तः स्वमोदनं पचते; स्वं कटं करोति, स्वं कटं कुरुते।**

पाणिनि के इस नियम से स्पष्ट है कि किसी अर्थविशेष का बोध कराने के लिए यदि कोई प्रत्यय कहा है, और वह अर्थ अन्य शब्द से बोधित हो गया है तो उस विशेष प्रत्यय के उच्चारण की आवश्यकता नहीं रहती। **पचते** में तीन अंश हैं—एक पच् धातु, यह क्रिया को कहता है। दूसरा(**अ**=**शप्**),यह विकरण कर्त्ता का अभिधायक है। तीसरा '**ते**' यह पुरुष वचन तथा क्रियाफल के कर्तृगामित्व को कहता है। **ओदनं**

---

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ २३ टि० २।

पचते=अपने खाने के लिए चावल पकाता है। **पचति** में भी ये ही तीन अंश हैं। इसमें तिप् क्रियाफल के परगामित्व का बोध कराता है। **ओदनं पचति**–दूसरे के लिए अर्थात् स्वामी आदि के लिए ओदन पकाता है। जब ते प्रत्यय का एक अंश क्रियाफल का कर्तृगामित्व **स्वं** पद से बोधित हो गया तो वक्ता की आत्मनेपदांश की विवक्षा नहीं रहती। शेष अर्थ जो **ते** और **ति** में समान हैं, उसे व्यक्त करने के लिए किसी का भी प्रयोग कर सकते हैं। इसी नियम को भाष्यकार **उक्तार्थानाम-प्रयोगः** शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करते हैं।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण लीजिए—परोक्ष भूत अर्थ को व्यक्त करने के लिए **परोक्षे लिट्** (अ०३।२।११५) से लिट् का विधान किया है। यदि परोक्षभूत अर्थ **स्म** पद से कह दिया जाये, तो लिट् प्रत्यय की आवश्यकता नहीं रहती। केवल पदपूर्त्यर्थ किसी भी काल विशेष बोधक लकार का प्रयोग कर सकते है। **प्रथमातिक्रमे माना-भावात्** नियम के अनुसार तथा रूप की सरलया की दृष्टि से साधा-रण जन लट् का प्रयोग करते हैं। इसी बात को पाणिनि ने **लट् स्मे** (अ०३।२।११८) सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया है।

यदि उक्त सूत्रों द्वारा ज्ञापित **उक्तार्थानामप्रयोगः** नियम को खुली आंखों से देखें तो विदित होगा कि इस एक नियम से सहस्रों वैदिक और प्राचीन आर्ष प्रयोग बड़ी सरलता से समझ में आ जाते हैं। यथा—

(१) **सोमो गौरी अधि श्रितः** (ऋ—९।१२।३०) में सप्तम्यर्थ के अधि द्वारा उक्त हो जाने से सप्तमी विभक्ति का प्रयोग नहीं होता। इसे ही पाणिनि ने **सुपां सुलुक्** (अ००।१।३९)द्वारा दर्शाया है।[1]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् (ऋ०१।१६४।३९) में **परमे** विशे-षण गत सप्तमी से सप्तम्यर्थ का बोध हो जाने से **व्योमन्** विशेष्य में सप्तमी का अभाव देखा जाता है।[2]

---

१. अनेन लोपेनानुत्पत्तेरेवान्वाख्यानमुक्तम्। महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।६४, पृष्ठ ८९ निर्णयसागर सं०।

२. द्रष्टव्य—किंच विशेष्यविभक्त्या विशेषणीयसंख्यादीनामुक्तावपि विशेषणाद् यथा साधुत्वाय विभक्तिः क्रियते। महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।६४, पृष्ठ ८३ निर्णय० सं०।

चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति (ऋ० १।१६२।६) में **'ये'** पद से कर्त्ता के बहुत्व का बोध हो जाने से क्रिया द्वारा बहुत्व प्रदर्शन की आवश्यकता न रहने के कारण एक वचन का प्रयोग हुआ है।

अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः (ऋ० ७।१०४।१५) में अन्य पुरुषत्व का बोध **सः** पद से हो जाने पर क्रिया में अन्य पुरुषत्व के बोधक प्रथम पुरुष के प्रत्यय की आवश्यकता नहीं रहती, अतः शेष अर्थ के बोधनार्थ मध्यम पुरुष के प्रत्यय का प्रयोग हो गया।

अब हम इसी प्रकार के कुछ लौकिक शिष्ट प्रयोग प्रस्तुत करते हैं—

विराट्द्रुपदौ.........**ययुः**। महा० द्रोण० १८।६।३१॥

शालावृका ....**विन्दति**। महा० शान्ति० १३३।८॥

वयं.........**प्रतिपेदिरे**। महा० शान्ति० ३३६।३१॥

यूयं.........**अपराध्येयुः**। महा० वन० २३९।१०॥

वयं.........**ददृशिरे**। महा० शान्ति० ३३६।३५॥

इस संक्षिप्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि यदि पाणिनीय शास्त्र की भाषाविज्ञान की दृष्टि से व्याख्या की जाये और पाणिनीय नियमों और प्रयोगों के आधार पर ज्ञापित होने वाले नियमों का सामान्य नियमों के रूप में प्रयोग किया जाये तो लोकभाषा से लुप्त सहस्रों मूल धातुओं और प्रातिपदिकों का परिज्ञान हो सकता है। संस्कृत भाषा का विपुल शब्द-समूह आंखों के सन्मुख नर्तन करने लगता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से भट्टकुमारिल ने कहा था—

'यावाँश्च अकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकम् उपलक्षणम्, तदुपलक्षितरूपाणि च।' तन्त्रवार्तिक १।३।१२, पृष्ठ २३९, पूना सं०।

जब अष्टाध्यायी की उक्त प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या से संस्कृतभाषा की लुप्त अलुप्त विपुल शब्दराशि का परिज्ञान होगा तभी संसार की विविध भाषाओं का यथोचितरूप में तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है। अन्यथा थोड़े से ज्ञात शब्दों के आधार पर किया गया तुलनात्मक अध्ययन और उसके द्वारा निकाले गये परिणाम सदा भ्रान्त होंगे। इस विषय में योरोप के प्रमाणीभूत प्रसिद्ध भाषा-

वैज्ञानिक बॉप का एक उदाहरण देकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

बॉप लिखता है—कतिपय शब्दों की तुलना से ज्ञात होता है कि योरोपियन भाषाओं की अपेक्षा बंगला संस्कृत से अधिक दूर है। बंगला के 'बाप' और 'बोहिनी' शब्दों का संस्कृत के 'पितृ' और 'स्वसृ' शब्दों से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।'

वै० वा० इति० भाग १ पृष्ठ ६६,६७ में उद्धृत

विचारे बॉप को यह पता नहीं था कि संस्कृत में पिता के लिए **'वाप'** और स्वसा के लिए **'भगिनी'** शब्द का भी व्यवहार होता है। (बंगला के बाप और बोहिनी शब्दों का संस्कृत के वाप और भगिनी से सीधा सम्बन्ध है।) अन्यथा वह ऐसा मिथ्या निष्कर्ष न निकालता। इत्यलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।

तीसरा परिशिष्ट

नागोजिभट्ट-पर्यालोचित भाष्यसम्मत अष्टाध्यायीपाठ

नागोजिभट्ट-पर्यालोचित भाष्यसम्मत अष्टाध्यायी पाठ का एक हस्तलेख वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती-भवनस्थ संग्रहालय में विद्यमान है। मूलकोश सं० १८८५ वि० का लिखा हुआ हैं। इसकी हस्तलेख संख्या आ० ६१५० है। हस्तलेख में दो पत्रे (=४ पृष्ठ) हैं। यह अत्यन्त जीर्णशीर्ण और अशुद्ध तथा अस्पष्ट लिखा हुआ है। इस हस्तलेख की प्रतिलिपि हमारे विद्यालय (वाराणसी) के भूतपूर्व छात्र श्री ओम्प्रकाश व्याकरणाचार्य एम०ए० ने श्रावण वि० सं० इसकी प्रतिलिपि करके हमें दी थी।

नीचे सूत्र के साथ [ ] कोष्ठक में जो सूत्र संख्या दी जा रही है, वह रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित अष्टाध्यायी (संस्क० ७, सं० २०२८) के अनुसार है और यह सूत्र संख्या हमने दी है।

हस्तलेख का पाठ

[अथ प्रथमोऽध्याय]

[१।१।१७] उञः, ऊँ—योगविभागोऽत्र भाष्यकृतः।
[१।१।४९] स्थानेऽन्तरतमः, स्थानेऽन्तरतमे पाठान्तरम्[1]।
[१।३।२९] समो गम्यृच्छिभ्याम्—स्वरित्यादि प्रक्षिप्तम्[2]।
[१।४।१] आकडारात्—प्राक्कडरात् परं कार्यम् इति पाठान्तरम्[3]।

---

१. कुतः पुनरियं विचारणा ? उभयथा हि तुल्या संहिता 'स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः' इति। द्र०—अत्रैव सूत्रे महाभाष्यम्।

२. वृत्तिकृतेति शेषः (नागेशमते)। महाभाष्येऽत्र तदर्थबोधकवार्तिकद्वय-दर्शनात्।

३. उभयथाह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिद् 'आकडारादेका संज्ञा' इति, केचित् 'प्राक्कडारात् परं कार्यम्' इति। अत्रैव सूत्रे भाष्यं द्रष्टव्यम्।

[१।४।४३] दिवः कर्म इति आकडारसूत्रभाष्यस्वरसः[1] [पाठः], 'च' सहित पाठो वृत्तौ ।

[१।४।५५] तत्प्रयोजको हेतुः—अत्र चकारस्य सैव व्यवस्था ।[2]

[१।४।५८] प्रादयः, [उपसर्गाः] क्रियायोगे—योगविभागोऽत्र भाष्यकृतः ।

[१।४।५९] गतिः—चकारो दिवः कर्मेतिवत् ।[3]

[२।१।११] विभाषा, अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्याः—योग-विभागोऽत्र भाष्यकृतः ।

[इति प्रथमोऽध्यायः]

[अथ द्वितीयोऽध्यायः]

[२।१।२२] द्विगुः—चकारो गतिरितिवत् ।[4]

[२।१।४७] पात्रेसमितादयः—सम्मित इत्यपि पाठः ।[5]

[२।१।६६] युवाखलति 'जरद्भिः' अपपाठः ।[6]

।। इति द्वितीयोध्यायः ।।

[अथ तृतीयोऽध्यायः]

[३।१।९५] कृत्याः—'प्राङ्ण्वुलः' इति प्रक्षिप्तम् ।[7]

---

१. 'दिवः कर्म—साधकतमं करणं दिवः कर्म च चकारः कर्तव्यः । द्र०—महा० १।४।१।।

२. अत्र 'स्वतन्त्रः कर्ता तत्प्रयोजको हेतुश्च—चकारः कर्तव्यः' इत्यादि १।४।१ सूत्रस्थं भाष्यमनुसन्धेयम् ।

३. अत्र 'उपसर्गाः क्रियायोगे गतिश्चेति चकारः कर्तव्यः' इत्यादि १।४।१ सूत्रस्थं भाष्यमनुसन्धेयम् ।

४. यथा 'गतिः' [१।४।५९] सूत्रे चकाररहितः पाठस्तथैवात्रापीति भावः । अत्र 'तत्पुरुषत्वे द्विगुश्चग्रहणं कर्तव्यम् । तत्पुरुषः, द्विगुश्च इति चकारः कर्तव्यः' इत्याद्याकडार [१।४।१] सूत्रभाष्यमनुसन्धेयम् ।

५. काशिकावृत्तौ पाठः ।

६. अत्रैव सूत्रभाष्यप्रदीपे कैयटः—'जरद्भिः इत्यपि पाठं शिष्या आचार्येण बोधिता इति युवजरन् इत्यपि भवति ।' अत्रैव प्रदीपोद्योते नागेशः—'अत्र मानं चिन्त्यम् । युवजरन् इति बहुलग्रहणेनापि सुसाधम् ।'

७. अत्रैव सूत्रभाष्ये वार्तिकदर्शनात् ।

[३।२।७६,७७—अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते क्विप् च इति स्थाने] क्विप् च, अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते-इति ब्रह्मभ्रूण [३।२।८७] इति सूत्र-भाष्यस्वरसः ।

[३।३।७८] अन्तर्घनोदेशे—'घणः' इत्येके[1], 'अन्तर' इत्यन्ये ।[2]

[३।३।१२२] अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च—'धारावायाः' इति प्रक्षिप्तम् ।[3]

[३।४।३२] प्रमाणे—स च व्यवहितः पाठो वृत्तौ ।[4]

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

[अथ चतुर्थोऽध्याय]

[४।१।१५] टिड्ढाणञ् ···क्वरपः—[5]'ख्युनाम्' इति प्रक्षिप्तम्

[४।१।३७] वृषाकप्य ···· [6]कुसिदानामुदात्तः—'कुसीद' इत्यपपाठः ।

[४।१।८१] दैवयज्ञि ·····काण्ठेविद्धि···—'काण्डे' इति पाठान्तरम् ।[7]

[४।१।१३४] मातृष्वसुः[8] - चकारपाठोऽत्र वृत्तौ ।

[४।१।१५५,१६७,१७१] कौसल्यकार्मा— -(१५५) तालव्यपाठः केषांचित् । एवं साल्वेय (१६७)[9] साल्वावयव (१७१) इत्यादावपि ।

[४।१।१६५ इत्यनन्तरम्] वृद्धस्य च पूजायाम्, यूनश्च कुत्सायाम्—द्वे वार्तिके प्रक्षिप्ते ।[10]

---

१. द्रष्टव्याऽत्रस्था वृत्तिः । २. अत्र प्रमाणमनुसन्धेयम् ।

३. हलश्च [३।३।१२१] सूत्रभाष्ये तादृग्वार्तिकदर्शनात् ।

४. 'वर्षप्रमाणे चोलोपोऽस्यान्यरस्याम्' पाठ इति भावः । वृत्तौ सम्प्रति चकारोऽन्यत्रोपलभ्यते ।

५. अत्रैव सूत्रभाष्ये तादृगुपसंख्यानस्य दर्शनात् ।

६. किमत्र प्रमाणमिति न व्यक्तीकृतं नागोजिभट्टेन ।

७. अत्र 'कण्ठविद्ध' इत्यपि पाठान्तरम् । द्र०—शब्दकौस्तुभः ४।१।८१॥

८. किमत्र प्रमाणमिति नोल्लेखि भट्टेन । उद्योतेऽप्यत्र सूत्र इत्थमेवाह नागेशः ।

९. नाम नात्र निर्दिष्टम् ।

१०. 'जीवति तु वंश्ये युवा'[४।१।१६३]सूत्र भाष्ये 'वृद्धस्य च पूजायाम्

[४।२।२] लाक्षारोचनाट् ठक्—'शकलकर्दमाभ्याम्' इति प्रक्षिप्तम्।[1]

[४।२।४१] ब्राह्मणमाण ·· यन्—'यत' इति त्वपपाठः।[2]

[४।२।४२] ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्–'गजसहाय' इति प्रक्षिप्तम्।[3]

[४।२।१२६] कच्छाग्निवक्त्रवर्तोत्तरपदात्–'गर्त' इत्यपपाठः।[4] 'जनपदतदव०' [४।२।१२३] इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम्।

[४।३।११७,११८]संज्ञायां कुलालादिभ्यो वुन्–योगविभागोऽत्र भाष्यकृतः।[5]

[४।३।१३१ इत्यनन्तरम्] 'कौपिञ्जल' इति 'आथर्वणिक' इति द्वे वार्तिके प्रक्षिप्ते।[6]

[४।३।१४०] शम्याः ष्ट्लञ्।[7]

[४।३।१४६] नोत्त्वद्वर्ध्रबिल्वात्—'वर्ध' इति द्विः।[8]

[४।४।१७] विभाषा विवधात्—'वीवध' इति प्रक्षिप्तम्।[9]

[४।४।४२] प्रतिपथमेति [ठंश्च]—'ठञ् च' इति द्विः।[10]

इति, 'अपत्यं पौत्रप्रभृति'०[४।१।१६२] सूत्रभाष्ये 'जीवद्वंश्यं च कुत्सितम्' इति वार्तिकदर्शनादिति भावः। १. अत्रैव वार्तिकदर्शनादिति शेषः।

२. काशिकावृत्तावप्ययमेव पाठः, केषुचिद् हस्तलेखेषु 'यत्' पाठो दृश्यते।

३. अत्रैव सूत्रभाष्ये तादृग्वचनस्य दर्शनात्।

४. द्रष्टव्योऽत्र लघुशब्देन्दुशेखरः (भाग २, पृष्ठ २६०)।

५. अत्रैव सूत्रभाष्ये 'योगविभागः करिष्यते' इति वचनात्।

६. रैवतिकादिभ्यश्छः [४।३।१३१] सूत्रभाष्ये वार्तिकपाठात्।

७. अत्र 'ञितश्च तत्प्रत्ययात्' [४।१।१५३] भाष्यप्रदीपोद्योते 'भाष्यप्रामाण्यात् ष्लञः टित्त्वस्यैवाङ्गीकारान्न दोषः' इति नागेशवचनमनुसन्धेयम्। तुलनीयम्—'ष्लञ्' अत्र टित् प्रत्ययः'। लघुशब्देन्दुशेखरः (भाग २, पृष्ठ २८०)

८. द्विःप्रकारकोऽपि पाठः प्रामाणिक इति भावः। अयं पाठः ४।२।१२४ सूत्रभाष्येण द्योत्यते। ९. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनात्।

१०. अत्र द्विः पदेन किमभिप्रेतमिति न ज्ञायते। अत्र 'वृत्तौ त्वेतद् विहितप्रत्ययो नियुक्तः' इति लघुशब्देन्दुशेखरे (भाग २, पृष्ठ २८७) नागेशः। एतद्व्याख्याने भैरवमिश्र आह—'तेनादिवृद्धिरहितमुदाहरणं युक्तम्' इति। सम्भवत उभयथाऽपि पाठोऽत्र नागेशाभिप्रेतः स्यात्।

[४।४।५३] किशरादिभ्यः—दन्त्यमध्यपाठान्तरम् ।[1]

[४।४।६४] बह्वच्पूर्वपदाट् ठञ् च—'ठच्' इति वृत्तौ ।[2]

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

[अथ पञ्चमोऽध्यायः]

[५।१।२५] कंसाट्टिठन्[3]—'टिठन्' इति वृत्तौ ।

[५।१।३५ इत उत्तरम्] अध्यर्धपूर्वद्विगो[4] ···'द्वित्रिपूर्वादण् च' इति प्रक्षिप्तम् ।[5]

[५।१।५७,५८] तदस्य परिमाणं संख्यायाः [संज्ञा] संघसूत्राध्ययनेषु योगविभागोऽत्र भाष्ये ।[6]

[५।१।६२] त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे ···तोर्वेति द्विः ।[7]

[५।१।६३,६४] तदर्हति छेदादिभ्यो नित्यम्—योगविभागोऽत्र भाष्ये कृतः ।[8]

[५।२।१०१] प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः—'वृत्ति' इति प्रक्षिप्तम् ।[9]

[५।३।५] एतदोऽन्—'अश्' इत्यपपाठः ।[10]

---

१. लघुशब्देन्दुशेखरे तु नागेशः 'किसरादि' दन्त्यमध्यप्रतीकमुपादाय 'तालव्यमध्यपाठो वृत्तौ' इत्युक्तवान् । भाग २, पृष्ठ २८८ ।

२. प्रत्ययस्य ञित्त्वे 'त्राधोदशायन्यिकः' इत्येवमादावादिवृद्धिः स्यात् । किमत्र तत्त्वमिति देवा ज्ञातुमर्हन्ति ।

३. अत्र ठकारवति पाठे प्रमाणं चिन्त्यम् । स्त्रियां 'कंसिकी' इति ङीबपि न प्राप्नोति ।　　४. अत्रास्य पाठस्य प्रयोजनं चिन्त्यम् ।

५. शाणाद्वा [५।१।३५] सूत्रभाष्ये वार्तिकदर्शनात् ।

६. नात्र भाष्यकृता योगविभागो प्रदर्शितः । कैयटेन तु अत्रैव 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते खारशताद्यर्थम्' इति वार्तिकं विवृण्वता 'तदस्य परिमाणम्' इति योगविभागः कर्तव्यः' इत्युक्तम् । नागेशेनात्रोद्योते किमपि न लिखितम् । लघुशब्देन्दुशेखरे तु 'उत्तरेण योगविभागोऽत्र ध्वनितः' इत्युक्तम् ।

७. पाठोऽत्र भ्रष्ट इति कृत्वाऽभिप्रायो न ज्ञायते ।

८. आर्हादगोपुच्छपरिमाणाट्ठक्(५।१।१९) सूत्रभाष्ये योगविभाग उक्तः ।

९. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनादिति भावः ।

१०. 'अश्' पाठः काशिकावृत्तेः । अत्र शित्त्वादेव सर्वादेशः सुगमः ।

[५।३।७१,७२] अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः कस्य च दः—योगविभागो वृत्तौ ।[१]

[५।३।१०३] शाखादिभ्यो यः··'यत्' इति वृत्तौ, 'उगवा' [५।१।२] इति सूत्रे भाष्ये च ।[२]

[५।३।११७] पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ—दिभ्योऽणञौ इति द्विः ।[३]

[५।४।५०] कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य कर्तरि च्विः—'अभूततद्भावे' प्रक्षिप्तम् ।[४]

[५।४।१२०] सुप्रात·· सारिकुक्ष—'सारकुक्ष' इति द्विः ।[५]

[५।४।१२१] नञ्सुदुर्भ्यो हलिसक्थ्योः—'शक्तयोः' इति पाठान्तरम् ।[६]

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

[अथ षष्ठोऽध्यायः]

[६।१।३२] ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च—योगविभागोऽत्र भाष्ये ।[७]

[६।१।६१ सूत्रे] अपस्पृधेथा···राशीर्ताः—'अचि शीर्षः' इति पाठान्तरम् ।[८]

---

१. कथमिदमेकसूत्रमिति न व्यक्तीकृतं नागोजिभट्टेन। भाष्ये सहनिर्देश्य व्याख्यानादेवैकसूत्रत्वं तेनावगतं स्यात् ।

२. एतेन 'यः' पाठोऽसाधुरित्यभिप्रेतं स्यात् । तथा च उगवादि [५।१।२] सूत्रभाष्यप्रदीपोद्योते 'शाखादिभ्यो यः पाठस्त्वसाम्प्रदायिकः' इत्युक्तं नागेशेन । ३. द्विःप्रकारकोऽपि पाठः साध्विति भावः ।

४. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनात् । ५. उभावपि पाठौ साधू इति भावः ।

६. 'नञ्सुदुर्भ्यो०' पाठोऽयं कुत्रत्य इति न व्यक्तीकृतम् । अत्र 'हलिशक्त्योरिति केचित् पठन्ति' इतिवृत्तिवचनमनुसन्धेयम् ।

७. अत्रैव सूत्रभाष्ये योगविभाग उक्तः ।

८. अत्र पाठो भ्रष्टः । अत्रैवं पाठः शोधनीयः—'राशीताः—राशीर्तः इति पाठान्तरम् । इतोऽग्रे 'अचिशीर्षः' इति प्रक्षिप्तम् इति पाठो द्रष्टव्यः । अपस्पृधेथा···सूत्रोपादानं किमर्थमिति न ज्ञायते । 'अचि शीर्षः' इति कस्य पाठान्तरमिति न ज्ञायते । वस्तुतस्तु 'ये च तद्धिते[६।१।६०] सूत्रभाष्ये वार्तिकमिदम् ।'

[६।१।७३]दीर्घात् पदान्ताद्वा—इति योगविभागः प्रत्याहाराह्निके भाष्ये।[1]

[६।१।९६ इत्यनन्तरम्]नित्यमाम्रेडिते डाचि—इति च।[2]

[६।१।८६] एत्येधत्यूठ्सु।[3]

[६।१।११११] नान्तःपादम्–'प्रकृत्यान्तःपादम्' इति पाठान्तरम्।[4]

[६।१।१२०,१२१] इन्द्रे प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।[5]

[६।१।१३१ इत्यनन्तरम्] 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' इति प्रक्षिप्तम्।[6]

[६।१।१३२,१३३] सम्परिभ्यां भूषणसमवाययोः करोतौ—अयं पाठोऽतउत् सार्वधातुके [६।४।११०] सूत्रभाष्ये स्पष्टः।[7] वृत्तौ तु सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे समवाये च' इति सूत्रपाठः। सम्पर्युपेभ्यः—इति त्वपपाठः।

[६।१।१४२,१४५] विष्किरः शकुनौ वा—'शकुनिर्विकरो वा' इत्यपपाठः।[8] इत उत्तरम्—'आश्चर्यमनित्ये' इति पाठ्यम्।[9]

---

१. ऐऔच् सूत्रभाष्य इति शेषः। "यत्तर्हि योगविभागं करोति। इतरथा हि 'दीर्घात् पदान्ताद्वा' इत्येव ब्रूयात्" इति भाष्यवचनम्। 'करोति ब्रूयात्' क्रिययोः सूत्रकारएव कर्त्ता। अतोऽनेन भाष्येण सूत्रकारस्यैकं सूत्रमिति न वक्तुं शक्यते।

२. कोऽत्राभिप्राय इति न ज्ञायते। चकारेण कस्य समुच्चय इत्यपि न व्यज्यते। नाम्रेडितस्य [६।१।९६] सूत्रभाष्ये वार्तिकदर्शनात् प्रक्षिप्तम् इति वक्तव्यम्।

३. अत्र पाठव्यत्यासो जातः। अयं पूर्वं पठनीयः। अस्योपन्यासे किं प्रयोजनमिति न व्यक्तीकृतम्। छ्वोःशूडनुनासिके च [६।४।१९] सूत्रभाष्यानुसारमिह 'एत्येधत्यूट्सु' इत्येव पाठः।

४. इकोऽसवर्णे० [६।१।१२३] सूत्रभाष्ये 'प्रकृत्येतदनुकृष्यते' इति वचनात्। ५. भाष्यानुसारम् 'इन्द्रे च नित्यम्' इत्यत्रापि नित्यपाठ इति व्यज्यते। उत्तरसूत्रे पुनर्नित्यग्रहणस्य च प्रयोजनान्तरमुक्तम्।

६. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनात्। ७. इह अर्थतोऽनुवादो भाष्यकारेण कृतः, न तु सूत्रपाठ उद्धृतः। ८. अत्रैव वार्तिकदर्शनात्।

९. भाष्ये पूर्वापरव्याख्यानदर्शनादिति शेषः।

[६।१।१५० इत्यनन्तरम्] कारस्करो वृक्षः—इति प्रक्षिप्तम् ।[1]

[६।१।१५८,१५९] तद्धितस्य कितः—योगविभागोऽत्र भाष्ये ।[2]

[६।२।५२] अनिगन्तोऽञ्चतावप्रत्यये—'तौ व' इति वृत्तौ ।[3]

[६।२।९२,९३] अन्तः सर्वं गुणकार्त्स्न्ये—योगविभागोऽत्र वृत्तौ ।[4]

[६।२।१०७] उदराश्वेषुषु क्षेपे—योगविभागोऽत्र वृत्तौ ।[5]

[६।२।१०९] निष्ठोपसर्गपूर्वावन्यतरस्याम्—'पूर्वमन्य' इति-पाठान्तरम् ।[6]

[६।२।१४२,१४३] अन्तः थाथ —इत्यत्र योगविभागो वृत्तौ ।[7]

[६।३।६] आत्मनश्च—'पूरणे' इति वार्तिकम् ।[8] आत्मनश्च पूरणे' सर्वमेव वार्त्तिकमिति हरदत्तः ।[9]

---

१. पारस्करादिगणे (६।१।१५१) 'कारस्करो वृक्षः' इति गणसूत्रस्य दर्शनात् ।

२. अत्र 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' (४।१।९८) सूत्रस्य भाष्यं प्रमाणम् ।

३. नागेशेन 'तावप्रत्यये' इति भाष्यानुगुणः पाठ इति कुतो विज्ञायीति न ज्ञायते । अस्यैव सूत्रस्य भाष्ये 'चौरनिगन्तोऽञ्चतौ व प्रत्यये' इति वार्तिके तद्व्याख्याने चोभयविधः पाठ उपलभ्यते । अत्र कीलहार्नसंस्करणेऽन्ते पाठभेदौ द्रष्टव्यौ । ४. अनयोरेकसूत्रत्वे प्रमाणं नोपन्यस्तं नागेशेन । अत्रानयोः सह-निर्देशादेकसूत्रमिति भ्रान्तो नागेश इति सम्भाव्यते ।

५. अत्रैव सूत्रे 'उदराश्वेषुषु क्षेपे इत्येतस्मान्नञ्सुभ्यामित्येतद् विप्रतिषेधेन इति पाठदर्शनादेकसूत्रत्वमनुमितं स्यान्नागेशेन । अत्रस्थः प्रदीपोद्योतोऽपि द्रष्टव्यः । ६. '०पसर्गपूर्वावन्य०' इति भाष्यानुगुणः पाठ इति कुतो विज्ञायि नागेशेनेति नोक्तम् ।

७. भाष्येऽत्र 'अन्तः' इत्येव सूत्रं व्याख्यायते । कदाचिद् 'ग्रहवृदृनि-श्चिगमश्च' (३।३।५८) सूत्रभाष्ये उभयोः सहपाठाद् भ्रान्तोऽत्र नागोजिभट्टः ।

८. 'आज्ञायिनि च' (६।३।५)इति सूत्रभाष्यप्रदीपोद्योते कृत्स्नस्यैव वार्तिकत्वं ब्रूते नागेशः । तदेवं स्ववचोविरोधादेकतरं चिन्त्यम् । अयं भाष्यसम्मतः सूत्रपाठः कदाचिदुद्योतात् पूर्वं निर्मितः स्यात् । अपि च 'वैयाकरणाख्यायाम्' (६।३।७) इत्यत्र 'परस्य च' इति चेन परशब्दप्रतिद्वन्द्वितया आत्मशब्दस्यैव ग्रहणम् । तदुभयं चैकसूत्रमित्याहुः' इत्युक्तम् ।

९. अस्य सूत्रस्यैव वृत्तिव्याख्यायां पदमञ्जर्यामाह हरदत्तः ।

[६।३।३९] स्वाङ्गाच्चेतः—'अमानिनि' इति प्रक्षिप्तम् ।[1]

[६।३।९२,९१] समः समिरञ्चतावप्रत्यये[2] विष्वग्देवयोश्च टेरद्रिः[3]—'विष्वग्देवयोश्च टेरञ्चतावप्रत्यये,[4] समः समि' इति वृत्तौ पाठः ।

[६।४।१००][5] घसिभसोर्हलि—'हलि च' इत्यपपाठः ।[6]

[६।४।५६] ल्यपि लघुपूर्वात्—पूर्वस्य इति पाठान्तरम्[7]

[६।४।१३२] वाह ऊट् ।[8]

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

[अथ सप्तमोऽध्यायः]

[७।२।२३] घुषिरविशब्दने—घु[षे] रिति द्विः ।[9]

---

१. अत्रैव सूत्रभाष्ये वार्तिकदर्शनात् ।

२. 'अञ्चतावप्रत्यये' इति भाष्यानुकूलः पाठ इति कुतो व्यज्ञायि भट्टेनेति न ज्ञायते । एतत्सूत्रभाष्यप्रदीपोद्योते तु नागेशेन 'अञ्चतौ वप्रत्यये' इत्येव पाठः स्वीकृतः । तदाह—"अतएव सूत्रे 'वप्रयत्ये' इति चरितार्थम्" इति । अन्यथा 'अप्रत्यये' इति ब्रूयात् । अत्र ६।२।५२ सूत्रपाठटिप्पण्यपि द्रष्टव्या ।

३. भाष्ये 'समः समि नहि वृति ......क्वौ' इत्युक्त्वा 'किमर्थमञ्चति नह्यादिषु क्विब्ग्रहणं क्रियते' इत्यादिपाठेनायं सूत्रपाठ ऊहितो भट्टेन ।

४. वृत्तौ 'अञ्चतौ वप्रत्यये' इत्येव पाठः, न तु नागेशभट्टनिर्दिष्टः ।

५. अत्र लेखकप्रमादात् पौर्वापरव्यत्यासः पाठस्याजनि ।

६. भाष्ये चकाररहित एव पाठः । अत्राह कैयटः प्रदीपे—'अन्यत्रापीति-वचनाद् वार्तिककारश्चकारं न पपाठेति लक्ष्यते ।'

७. अत्र नागेशेनोभौ पाठौ स्वीकृतौ । परन्तु एतत्सूत्रभाष्यात् 'ल्यपि लघुपूर्वस्य' इत्येव मूलसूत्रपाठ इति ज्ञायते । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' पाठस्य तु मुक्तकण्ठेन वक्तव्यत्वमुक्तम् ।

८. अत्रैव सूत्रभाष्ये 'ऊड् आदि कस्मान्न भवति ? आदितष्टिद् भवति इत्यादिः प्राप्नोति इतिवचनात् टित्वमेव भाष्यसम्मतमिति स्पष्टम् । 'च्छ्वोः शूड०' [६।४।१९] सूत्रभाष्यमप्यत्रैवानुकूलम् ।

९. द्विविधोऽपि पाठः प्रामाणिक इति भावः । 'घुषेर्विभाषा' इति अत्रैव सूत्रभाष्ये वचनात् तादृशोऽपि पाठः सम्भाव्यते ।

[७।२।३४] ग्रसितस्कभित—इति सूत्रे 'क्षरिति' इत्युत्तरं 'क्षमिति' इति केचित् पठन्ति।[1]

[७।२।४८] तीषसहलुभ……'तीषु' इत्यपपाठः।[2]

[७।२।६०] तासि च क्लृपः—'क्लृपः' इति [अपपाठः]।[3]

[७।२।७०,७१] ईशस्से ईडजनो ध्वे च[4]—ध्वें च' इति वृत्तौ पाठः।[4]

[७।२।८०] अतो येयः—'अतो या इयः' इति पाठो मुक् [७।२।८२] सूत्रभाष्ये।[5]

[७।३।१०] उत्तरपदस्य—अत्र 'च' सहितः पाठो वृत्तौ।[6]

[७।३।७५] ष्ठिवुक्लमुचमां शिति—'क्लम्याचमां शिति' इत्यपपाठः।[7]

[७।३।७७] इषगमियमां छः —'इषुगमि' इत्यपपाठः।[8]

[७।३।११७,११८,११९] इदुद्भ्यामौदच्च घेः—अत्र सूत्रत्रययोगविभागो भाष्ये।[9]

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

---

१. अत्र 'क्षमितिरहितः' 'क्षरितिवमिति' इत्येव पाठो भाष्यानुगुण इति कथं निरधारि नागोजिनेति न ज्ञायते।

२. अत्रैतत्सूत्रस्य काशिकावृतिर्भाष्यप्रदीपं चावलोकनीयम्।

३. 'क्लृपः' इति पाठो भाष्यकाराभिमत इति कथं विज्ञायि नागेशेनेति नोक्तम्। अपि च 'क्लृप इति' इत्यस्य को भाव इति न ज्ञायते। अत्र कदाचित् 'अपपाठः' पद नष्टं स्यात्। द्रष्टव्यः—क्लृपो रो लः(८।२।१८)सूत्रविषयको लेखः।

४. कथमिमौ पाठौ भाष्यसम्मताविति नोक्तं नागेशेन। भाष्यप्रदीपोद्योते तु 'अत्र इडजनोः स्ध्वे च' इति पाठो भाष्य इत्युक्तम्।

५. आने मुक् (७।२।८२) इतिसूत्रभाष्ये 'अतो येय इत्यत्र अकारग्रहणं पञ्चमीनिर्दिष्टम्' इत्यस्य स्थाने 'अतो या इय इत्यत्र अकार……' इत्यपि पाठान्तरमुपलभ्यते। तदाश्रित्योक्तवचनं नागेशस्येति ज्ञेयम्।

६. मुद्रितायां काशिकावृत्तौ चकाररहित एव पाठ उपलभ्यते।

७. भाष्ये नागोजिना निर्दिष्ट एव पाठ उपलभ्यते। एतत्सूत्रभाष्यप्रदीपस्तदुद्योतश्च द्रष्टव्यः।

८. अत्रैतत्सूत्रभाष्यप्रदीपस्तदुद्योतश्चावलोकनीयः।

९. अयं भावः—'ङेराम्नद्याम्नीभ्य इदुद्भ्याम्' इत्येकयोग आसीत्। तस्य

[अथाष्टमोऽध्यायः]

[८।१।६७] पूजनात् पूजितमनुदात्तम्—अत्र 'काष्ठादिभ्यः' इति प्रक्षिप्तम् ।[1]

[८।१।७४] नामन्त्रिते समानाधिकरणे, सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने—वृत्तौ तु 'सामान्यवचनम्' इत्यविधाय[2] उत्तरसूत्रे 'बहुवचनम्' इति प्रक्षिप्तम् ।[3]

[८।२।१८] कृपो रो लः—'क्लप' इत्यपपाठः ।[4]

[८।३।२७,२८,२९,३०,३१,३२] '[नपरे नः], ङस्सि धुट्, नश्च, शि तुक्, ङ्णोः कुक्टुक् शरि, ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्'[इति क्रमः] ।[5]

[८।३।९८ इत्यनन्तरम्] 'एति संज्ञायामगात्' इति 'नक्षत्राद्वा' इति च गणसूत्रे प्रक्षिप्ते ।[6]

[८।३।११८] सदेः परस्य लिटि—'स्वञ्ज्योः' इति प्रक्षिप्तम् ।[7]

[८।४।१९] अनितेरन्तः—योगविभागो भाष्यकृतः ।[8]

[८।४।२८] 'उपसर्गाद् बहुलम्' इति भाष्यकृता भङ्क्तः ।[9]

भाष्यकृता योगविभागः कृतः । तेन 'ङे राम्नद्याम्नीभ्यः, इदुद्भ्याम्, औदच्च घेः' इति सूत्रत्रयं निष्पन्नम् । 'औदच्च घेः' इत्यत्र योगविभागो भाष्यकृता निराकृतः ।

१. इह भाष्ये वार्तिकदर्शनात् ।

२. अत्र 'सामान्यवचनमिति पूर्वसूत्रे विधाय' इति युक्तः पाठो द्रष्टव्यः ।

३. 'बहुवचनमिति वक्ष्यामि' इतिभाष्ये दर्शनात् ।

४. केनायमपपाठः स्वीकृत इति न ज्ञायते ।

५. अत्र भाष्येऽनेनैव क्रमेण सूत्राणामुपादानात् ।

६. सुषामादिगणे (८।३।९८) अनयोः सूत्रयोः पाठदर्शनात् ।

७. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनात् ।

८. नैवात्र भाष्ये प्रत्यक्षं योगविभागो दर्शितः ।

९. भाष्ये तु 'उपसर्गादनोत्परः' इति सूत्रपाठमुपादाय 'अनोत्परः' इत्यंशे तत्पुरुषे बहुव्रीहौ चोभयथाऽपि दोषं प्रदर्श्य उक्तम्—'एवं तर्हि उपसर्गाद् बहुलमिति वक्तव्यम्' इति । ८।४।२८ ।

[८।४।५१ ५२,५३,५४,५५,५६,५७,५८,५९,६०,६१,६२, ६३ पाठक्रमः]—

[भाष्यपाठः]	[वृत्तिपाठः][1]
[५१] दीर्घादाचार्याणाम् ।	५१. दीर्घादाचार्याणाम् ।
[५२] अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ।	५२. झलां जश् झशि ।
[५३] वा पदान्तस्य ।	५३. अभ्यासे चर्च ।
[५४] तोर्लि ।	५४. खरि च ।
[५५] उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ।	५५. वाऽवसाने ।
[५६] झयो होऽन्यतरस्याम् ।	५६. अणोऽ प्रगृह्यस्याननुनासिकः ।
[५७] शश्छोऽटि ।	५७. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ।
[५८] झलां जश् झशि ।	५८. वा पदान्तस्य ।
[५९] अभ्यासे चर्च ।	५९. तोर्लि ।
[६०] खरि च ।	६०. उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य
[६१] वाऽवसाने ।	६१. झयो होऽन्यतरस्याम् ।
[६२] अणोऽप्रगृह्यस्याननुनासिकः ।	६२. शश्छोऽटि ।
[६३] हलो यमां यमि लोपः ।	६३. हलो यमां यमि लोपः ।

दीर्घादाचार्याणामित्यारभ्यान्यथा पाठो वृत्तौ ।[2]

।। इत्यष्टमोऽध्यायः ।।

।। इति नागोजिभट्टपर्यालोचितभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठः समाप्तः ।।

त्रीणि सूत्रसहस्राणि नव सूत्रशतानि च ।
चतुःषष्टि च (३९६४) सूत्राणि कृतवान् पाणिनिः स्वयम् ।।

इतोऽग्रे हस्तलेखेऽयं पाठ उपलभ्यते—

संवत् १८८५ चैत्रासिते अष्टम्यां तिथौ त्रिवि (?)

—०—

---

१. अत्र वृत्तिपाठस्तु साक्षात्क्रमभेदपरिज्ञानायास्माभिरुद्धृतः ।

२. भाष्येऽस्मिन् प्रकरणे 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य, शश्छोऽटि, अभ्यासे चर्च, झरो झरि सवर्णे' इत्येवं क्रमेण व्याख्यानात् नागोजिभट्टेनायं भाष्यसूत्रक्रम ऊहितः । उक्तं च तेनैव प्रदीपोद्योते (८।४।६१) 'भाष्येऽभ्यासे चर्च इत्यस्य परत्र पाठेन चर्त्वस्यैव परत्वेन तं प्रत्यस्यासिद्धत्वाभावादित्याहुः । वृत्त्युक्तः पाठस्तु चिन्त्य एव ।

अष्टाध्यायी सम्बन्धी एक विशेष हस्तलेख

वाराणासेयविश्वविद्यालयस्य सरस्वतीभवने ३५७ संख्यायां निर्दिष्ट एकः सम्पूर्णाष्टाध्याय्या हस्तलेखो वर्तते । अस्मिन् हस्तलेखे ६३ पत्राणि सन्ति, बहुत्र नागोजिभट्टसम्मतः सूत्रपाठो दृश्यते । आदौ च प्रत्याहारसूत्राणि 'माहेश्वराणि' इति पाठो न दृश्यते । ग्रन्थान्ते च सूत्रगणनैवं लिखिता उपलभ्यते—

भू१ पत्रि५ क्रिमि३, रष्ट८ दर्शन६ यमै २,
क्ष्मा१ वह्नि३ षड्भिः६, शरानेह३ षड्भि ६ रिषुः५,
स्मरायुध५ शरै५ पत्रि५, त्रि३ गोत्रै७ रपि दिङ्नाथा६,
ग्नि३ युगै४ र्गजा८, ग ६ दहनैः३ रामः३,
पदश्च क्रमादध्याया नव९ नीभ ७ नन्द९ दहनैः३,
सूत्राणि चार्जीगणद् पुरुषोत्तमगिरिणा स्वपठनार्थं शुभम् ।

अत्र अङ्कानां वामतो गतिरिति न्यायेन प्रत्यध्यायं त्रिभिस्त्रिभिः पदैः सूत्रसंख्या निर्दशिता । तथाहि—

प्रथमाध्याये ३५१	पञ्चमाध्याये ५५५
द्वितीयाध्याये २६८	षष्ठाध्याये ६७३
तृतीयाध्याये ६३१	सप्तमाध्याये ८४३
चतुर्थाध्याये ५६३	अष्टमाध्याये ३९७ ।

इयं सूत्रगणना काशिकावृत्त्यनुसारं वर्तते । तत्र १-२-३-५ अध्यायानां सूत्रगणना शुद्धा वर्तते । ४–६–७–८ अध्यायानां सूत्रगणनायां संख्यापदानां व्यत्यासात् सूत्रसंख्या अशुद्धा समपद्यत । अत्रैवं शुद्धा संख्या ज्ञेया—

अध्याय	अशुद्धा संख्या	शुद्धा संख्या	त्रयोऽप्यङ्का अस्थाने
४	५६३	६३५	,, ,,
६	६७३	७३६	,, ,,
७	८४३	४३८	,, ,,
८	३९७	३७९	द्वितीयतृतीयावस्थाने

अन्ते या कात्स्र्न्येन संख्या निर्दशिता, सा ३९७९ सम्पद्यते । प्रत्यध्यायं या संख्या निर्दशिता तत्राशुद्धी शोधयित्वा योगः ३५१+२६८+६३१+६३५+५५५+७३६+४३८+३७९=) ४०१० संजायते । तदेवं प्रत्यध्यायसंख्यायोगोऽन्ते लिखितश्च सर्वयोगः परस्परं विरुध्यतः ।

चौथा परिशिष्ट

अनन्तराम-पर्यालोचित भाष्यसम्मत सूत्रपाठ

इस ग्रन्थ के हस्तलेख की प्रतिलिपि भी श्री ओम्प्रकाशजी द्वारा ही हमें प्राप्त हुई थी। यह ग्रन्थ वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती-भवन में है। इसकी संख्या २०३६।८६ है। यह हस्तलेख एकपत्रात्मक अर्थात् दो पृष्ठों का है। इसमें कहीं-कहीं पर चिह्न देकर लेखक ने टिप्पणियां दी हैं। इस ग्रन्थ का लेखनकाल अज्ञात है।

इस लघु संकेतात्मक संग्रह में नागोजिभट्ट पर्यालोचित पाठ से कुछ भिन्नता वा वैशिष्ट्य है। यह दोनों पाठों की तुलना से व्यक्त होता है।

अनन्तराम-पर्यालोचित-भाष्यसम्मतः सूत्रपाठः

श्रीपाणिनिकात्यायनपतञ्जलिभ्यो नमः। ओम्।

उञः ऊँ [1][१।१।१७]। समो गम्यृच्छिभ्याम् [१।३।२९]। प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे [१।४।५८] ॥१॥

विभाषापपरि० [२।१।११] ॥२॥

कृत्याः [३।१।९५]। आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च [३।१।१२६]।[2] प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः [३।१।११८]। अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च [३।३।१२२] ॥३॥

टिड्ढाण—क्वरपः [४।१।१५]। ०कुसिदाना० [४।१।३७]। 'वृद्धस्य च पूजायाम्, यूनश्च कुत्सायाम्' इति द्वे वार्तिके [४।१।१६५ सूत्रानन्तरम्]। लक्षारोचनाट्ठक् [४।२।२]। कलेर्ढक् इति वार्तिकम् [४।२।७ सूत्रानन्तरम्]। सास्मिन् पौर्णमासीति [४।२।२०]। ब्राह्मण—माद्यन् [४।२।४१]। ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् [४।२।४२]।

---

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठोऽस्मदीयः। २. अत्र सूत्रनिर्देशे पौर्वापर्यमभूत्।

संज्ञायां कुलाला० [४।३।११७,११८ एकं सूत्रम्]। कौपिञ्जलहस्तिपदादण्, इति वार्तिकम्+[४।३।१३१ सूत्रानन्तरम्]। +आथर्वणिकस्येकलोपश्च। विभाषा विवधात् [४।४ १७]। सगर्भ–द्यन् [४।४।११४]। वेशोयशआदेर्भगाद्यल्खौ[४।४।१३१,१३२ एकं सूत्रम्]॥४॥

द्वित्रिपूर्वादण् च इति वार्तिकम् [५।१।३५ सूत्रानन्तरम्]। तदस्मिन् वृ—पदा दीयते[1] [५।१।४६]। ✱ तदस्य परिमाणं संख्यायाः संज्ञासघसू० [५।१।५६,५७ एकं सूत्रम्]। × तदर्हति छेदादि० [५।१।६२ ६३ एकं सूत्रम्]। दण्डादिभ्यः [५।१।६४]। तस्य[2] दक्षि० [५।१।६४]। प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो[3] णः [५।२।१०१]। कुम्भवस्तियोगे संप० [५।४।५०] ॥५॥

ह्वः सम्प्रसारणमभ्य० [६।१।३२]। अपस्पृ–शीर्तः [६।१।३५]। अचि शीर्षः इति वार्तिकम् [६।१।६० सूत्रानन्तरम्]। दीर्घात् पदान्ताद्वा [६।१।७३]। नान्तःपादम्, प्रकृत्यान्तःपादम् इति पाठान्तरम् [६।१।१११]। इन्द्रे [६।१।१२०]। प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् [६।१।१२१]। अडभ्यासव्यवायेऽपि इति वार्तिकम् [६।१।१३१ सूत्रानन्तरम्]। संपरिभ्यां करो० [६।१।१३२]। विष्किरः

ग्रन्थकारकृताष्टिप्पण्यः—

+इदमपि वार्तिकमित्याहुः।[4] तन्न कैयटविरोधात्। तेन हि कौपिञ्जलेत्यस्यापाणिनीयत्वादत्र सूत्रेऽण उपसंख्यानमित्युक्तम्।

✱-योगविभागस्तु अन्येभ्योऽपि[5] इति वार्तिकसंग्रहायार्वाचीनैः कृतः, न तु भाष्यारूढः।　　× अत्र योगविभागः 'आर्हादगोपुच्छ' [५।१।१९] इति सूत्रभाष्ये स्पष्टः।

---

१. किमत्र प्रतिपाद्यमिष्यत इति न ज्ञायते।

२. तस्य च इति काशिकीयः पाठः, चकारोऽत्र नेष्यते।

३. अत्रैव 'वृत्तेश्च' इति वार्तिकदर्शनात् पाठोऽयं न भाष्यारूढः। द्र०—नागोजिपर्यालोचितः पाठः। यद्वात्र 'वृत्ति'पदं लेखकप्रमादात् पठितं स्यात्।

४. नागेशादयः। यद्यत्र नागेशस्यैव संकेतः स्यात् तर्ह्ययं ततोऽर्वाक्कालिक इति सुतरां सिद्धः।

५. एतत्सूत्रभाष्ये पठितस्यास्य संग्रहायेति भावः।

शकुनौ वा [६।१।१४५]। आश्चर्यमनित्ये [1][६।१।१४२]। कारस्करो वृक्षः इति पारस्करादिस्थम् [2][६।१।१५० सूत्रानन्तरम्]। तद्धितस्य कितः[६।१।१५८,१५९ एकं सूत्रम्]। उदराश्वेषुषु क्षेपे [६।२।१०७]। आत्मनश्च [६।३।६]। स्वाङ्गाच्चेतः [६।३।३९]। प्रकृत्याशिषि [६।३।८२]। ग्रन्थान्तेऽधिके[3] च [६।३।७९]। : घसिभसोर्हलि [६।४।१००]। ल्यपि लघुपूर्वात्, पूर्वस्य इति पाठान्तरम् [६।४ ५६ ॥६॥

ष्ठिवुक्लमुचमां शिति]७।३।७५]। इदुद्भ्यामौदच्च घेः [७।३। ११७,११८ एकं सूत्रम्] ॥७॥

पूजनात् पूजितमनुदात्तम् [८।१।६७]। नामन्त्रिते समानाधिकरणे, सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने [८।१।७३,७४]। कृपो रो लः[८।२।१८]। एति संज्ञायामगात्, नक्षत्राद्वा इति द्वे गणसूत्रे[4] [८।३।९९।१००]। सदेः परस्य लिटि [८।३।११८]। प्रनिरन्तः—[5]कार्ष्यख० [८।४।५]। अनितेरन्तः [८।४।१९]। उपसर्गादनोत्परः [८।४।२७]। दीर्घादा०, अनुस्वा०, वा पदान्तस्य, तोर्लि, उदस्था०, झयो०, शश्छो०, झलां जश्झ०, अभ्यासे, वावसाने, अणोऽप्रगृह्यस्यानु०, हलो यमां यमि लोपः [८।४।५१–६३ सूत्राणां क्रमभेदः]। अ अ [८।४।६७] ॥८॥

॥ इत्यष्टाध्यायीसूत्राणि भाष्यसम्मतानि
अनन्तरामपर्यालोचितानि ॥

ग्रन्थकारकृताष्टिप्पण्यः—

: 'हलि च' इति पाणिनीयः पाठ इत्यत्रैव सूत्रे कैयटः।

---

१. अत्र क्रमभेदनिदर्शने तात्पर्यम्। द्र०—नागोजिभट्टपर्यालोचितः सूत्रपाठः। २. पारस्करप्रभृतीनि [६।१।१५१] गणान्तर्गते एते सूत्रे।

३. अन्यत्र 'ग्रन्थान्ताधिके च' पाठः।

४. सुषामादि [८।३।९८] गणे पठिते सूत्रे।

५. किमस्य प्रयोजनमिति न ज्ञायते। कदाचित् 'कार्श्यं' पाठं निराकर्तुं मयं प्रयत्नः स्यात्।

पांचवां परिशिष्ट

मूल पाणिनीय शिक्षा

हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के पृष्ठ २३६–२३७ पर लिख चुके हैं कि पाणिनि ने एक '**सूत्रात्मिका शिक्षा**' का प्रवचन किया था। यहां उसी के विषय में संक्षेप से वर्णन करके उसका मूलपाठ प्रकाशित करते हैं।

पाणिनीय शिक्षा के सम्प्रति दो प्रकार के पाठ मिलते हैं—एक सूत्रात्मक, और दूसरा श्लोकात्मक। सूत्रात्मक और श्लोकात्मक पाठ के भी लघु और वृद्ध दो-दो प्रकार के पाठ हैं।

आधुनिक पाणिनीय वैयाकरणों में पाणिनीय शिक्षा का श्लोकात्मक पाठ ही प्रसिद्ध है, और वैदिक भी वेदाङ्ग अन्तर्गत श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का ही पाठ करते हैं। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के लघुपाठ में ३५ श्लोक, और वृद्धपाठ में ६० श्लोक हैं। लघुपाठ याजुष पाठ कहाता है, और वृद्धपाठ ऋक्पाठ।

सूत्रात्मक शिक्षा के भी लघु और वृद्ध दो पाठ हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वि० सं० १६३६ के मध्य में प्रयाग से पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों का जो हस्तलेख प्राप्त किया था, वह पाठ लघुपाठ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त शिक्षासूत्र का हस्तलेख अन्त में त्रुटित था। अतः उसमें अष्टम प्रकरण का प्रथम सूत्र भी अपूर्ण ही है। मध्य में भी कहीं-कहीं पर लेखकप्रमाद से कुछ सूत्र छूटे हुए प्रतीत होते हैं। पाणिनीय शिक्षासूत्रों का जो पूर्ण पाठ हम छाप रहे हैं, वह वृद्धपाठ है। यह बात दोनों पाठों की तुलना से स्पष्ट हो जाती है।

मूल-पाठ—पाणिनीय शिक्षा के श्लोकात्मक और सूत्रात्मक जो दो प्रकार के पाठ मिलते हैं, उनमें पाणिनि-प्रोक्त मूलपाठ कौनसा है, इसका अति संक्षिप्त विवेचन किया जाता है—

श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा का प्रथम श्लोक है—

'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा ।'

इस वचन से स्पष्ट है कि श्लोकात्मिका शिक्षा मूलतः पाणिनि-प्रोक्त नहीं है । वह तो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पाणिनीय मत के अनुसार बनाई गई है । श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के प्रकाश-नाम्नी टीका के रचयिता के मत में इसका प्रवक्ता पाणिनि का अनुज आचार्य पिङ्गल है ।[1] इस प्रकार ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य और टीकाकार के साक्ष्य से सर्वथा स्पष्ट है कि श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा चाहे, उसका लघु याजुष पाठ हो, चाहे वृद्ध आर्च पाठ, दोनों ही मूलतः पाणिनि-प्रोक्त नहीं हैं । श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा का पाणिनि-प्रोक्त मूल ग्रन्थ इनसे भिन्न है । हमारा मत है कि पाणिनीय श्लोका-त्मिका शिक्षा का आधार पाणिनीय सूत्रात्मिका शिक्षा है ।[2]

श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के पठन-पाठन में अधिक प्रयुक्त होने के कारण सूत्रात्मक पाठ लुप्त हो गया, हस्तलेख भी अप्राप्य हो गए । श्लोकात्मिका शिक्षा मूलतः पाणिनि-प्रोक्त नहीं है, इस तथ्य की ओर सबसे पूर्व इस युग में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का ध्यान गया । उन्होंने मूलभूत पाणिनीय शिक्षा की प्राप्ति के लिए महान् प्रयत्न किया । अन्ततः वि० सं० १९३६ के मध्य में प्रयाग के एक ब्राह्मण के गृह से पाणिनीय शिक्षा-सूत्र का एक हस्तलेख प्राप्त किया । यद्यपि वह हस्तलेख भी अधूरा था, अन्त के एक या दो पत्र नष्ट हो चुके थे, पुनरपि स्वामी दयानन्द की यह उपलब्धि शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण थी । उन्होंने उपलब्ध शिक्षासूत्रों को आर्यभाषा व्याख्या सहित वि०सं० १९३६ के अन्त में **वर्णोच्चारणशिक्षा** के नाम से प्रकाशित किया ।[3]

---

१. ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणेऽनुजस्तत्र भवान् पिङ्गलाचार्यः तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते—अथ शिक्षामिति ।

१. आपिशल शिक्षा का भी एक श्लोकात्मक पाठ है । उसका आरम्भ का वचन है—अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि मतमापिशलेर्मुनेः ।

इस श्लोकात्मिका शिक्षा के १९ सूत्र उपलब्ध हुए थे । इन्हें भी डा० रघुवीर जी ने आपिशल शिक्षासूत्रों के पश्चात् छापा था ।

३. इस विषय में जो अधिक जानना चाहें, वे हमारे 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में देखें ।

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त हुए शिक्षासूत्रों का दूसरा हस्तलेख चिरकाल तक विद्वानों को उपलब्ध नहीं हुआ। इस कारण श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के पाणिनीयत्व में विद्वानों को शङ्का बनी ही रही। दैवयोग से श्री डा० रघुवीरजी को अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय से आपिशल शिक्षासूत्रों के दो हस्तलेख उपलब्ध हो गए। उन्होंने उनके साथ स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों की तुलना करके स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के पाणिनीयत्व की स्थापना की। इस विषय में उन्होंने कुछ लेख भी लिखे।

इसके पश्चात् सन् १९३८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से मनोमोहन घोष एम० ए० सम्पादित '**पाणिनीय शिक्षा**' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसकी बृहद् भूमिका में मनोमोहन घोष ने सारा प्रयत्न इस बात की सिद्धि के लिए लगाया कि पाणिनीय शिक्षा का श्लोकात्मक पाठ ही पाणिनि द्वारा प्रोक्त है, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित सूत्रपाठ पाणिनीय नहीं है। इस प्रसंग में आपने डा० रघुवीर के लेख की आलोचना के साथ-साथ सूत्रात्मक पाठ को दयानन्द द्वारा कल्पित पाठ सिद्ध करने की भरपूर चेष्टा की।

मनोमोहन घोष के उक्त भूमिकास्थ लेख की विस्तृत आलोचना हमने **मूल पाणिनीय शिक्षा** इस शीर्षक से पटना की 'साहित्य' नाम्नी पत्रिका के सन् १९५९ अङ्क १ में प्रकाशित की। उसमें मनोमोहन घोष के सभी हेत्वाभासों का सप्रमाण निराकरण किया, और श्लोकात्मिका शिक्षा को पाणिनीय मानने पर अष्टाध्यायी से जो विरोध आते हैं, उनका उल्लेख करके सूत्रात्मक पाठ का पाणिनीयत्व सिद्ध किया। जो पाठक इस विषय में विशेष रुचि रखते हैं, वे हमारा उक्त लेख अवश्य पढ़ें।

आपिशल[1] और पाणिनीय शिक्षा

पाणिनीय शिक्षा के सूत्र आपिशल शिक्षा के सूत्रों के साथ बहुत साम्य रखते हैं। अतः आपिशल शिक्षासूत्रों की उपलब्धि पर यह

---

१. आपिशल शिक्षा के लिए देखिए हमारे द्वारा सम्पादित 'शिक्षा-सूत्राणि' संग्रह। इसमें चान्द्रशिक्षा का पाठ भी छापा है।

विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय हैं, अथवा आपिशल। दोनों के सूत्रपाठों की तुलना से इतना तो स्पष्ट है कि दोनों का पाठ प्रायः समान है। परन्तु जहां परस्पर में वैषम्य है, वह प्रवक्तृ-भेद के कारण है, अथवा पाठान्तरमूलक है। यद्यपि कुछ वैषम्य पाठान्तरमूलक कहे जा सकते हैं, पुनरपि कुछ पाठ ऐसे अवश्य हैं, जो प्रवक्तृभेद के कारण ही हैं। यथा—

आपिशल पाठ	पाणिनीय पाठ
ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।	**ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।**
विवृतकरणाः स्वराः।	**विवृतकरणा वा।**
	विवृतकरणाः स्वराः।

पाणिनीय पाठ में ऊष्म वर्णों का पक्षान्तर में विवृतकरण प्रयत्न कहा है, वह आपिशल पाठ में नहीं है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में एक सूत्र है—**नाज्झलौ** (१।१।१०)। इस सूत्र द्वारा पूर्व **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** (१।१।९) सूत्र से प्राप्त अचों और हलों की (अ इ ऋ लृ की क्रमशः ह श ष स के साथ) सवर्ण संज्ञा का निषेध किया है। उक्त हलों और अचों की सवर्ण संज्ञा तभी हो सकती है, यदि स्वरों और ऊष्मों के आभ्यन्तर प्रयत्न समान हों। दोनों के आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता **विवृतकरणा वा** इस पाणिनीय सूत्र से ही सिद्ध है। आपिशल शिक्षा में उक्त सूत्र न होने से अज्झलों की सवर्ण संज्ञा ही प्राप्त नहीं होती।

इसके अतिरिक्त दोनों शिक्षासूत्रों के निम्न पाठ भी द्रष्टव्य हैं—

आपिशल पाठ	पाणिनीय पाठ
ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाः(१।१९)।	**ङञणनमाः स्वस्थान-नासिकास्थानाः**(१।२१)।
स्पर्शयमवर्णकारो······(५।१)।	**स्पर्शवर्णकरो** ।
अन्तस्थवर्णकारो······(५।२)।	**अन्तस्थवर्णकरो**··· ।
ऊष्मस्वरवर्णकारो·····(५।३)।	**ऊष्मस्वरवर्णकरो**·····।

इनमें से प्रथम उद्धरण में 'ञमङणनाः' निर्देश उणादि **ञमन्ताड्डः** (१।१११४) सूत्र में प्रयुक्त ञम् प्रत्याहार के अनुरूप ञमङणनम् प्रत्याहारसूत्रानुसारी है। हमने अपने 'संस्कृत व्या-

करण के इतिहास' में सप्रमाण दर्शाया है कि पञ्चपादी उणादि आपिशलि-प्रोक्त है, और उसमें प्रयुक्त 'अम्' प्रत्याहार की दृष्टि से प्रत्याहारसूत्र में निर्दिष्ट **अमङणन** क्रम आपिशलि द्वारा उपज्ञात है, और यही क्रम उसके शिक्षासूत्र में भी है। पाणिनीय सूत्र में वर्गक्रम से पाठ है।

अगले उद्धरणों में **कार** और **कर** का भेद है।[1] पाणिनीय **कर** पाठ पाणिनि के **कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु** (३।२।२०) सूत्र के अनुसार है। **कार** पाठ में औत्सर्गिक **अण्** की कल्पना करनी पड़ती है।

इन भेदों के अतिरिक्त पाणिनीय शिक्षा में आपिशल शिक्षा की अपेक्षा निम्न सूत्र अधिक हैं—

कण्ठ्यान् आस्यमात्रान् इत्येके ।१।७।।
दन्तमूलस्तु तवर्गः।१।११।।
विवृतकरणा वा ।३।८।।

तीन सूत्रों का आधिक्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित लघुपाठ से दर्शाया है। हम पूर्व कह चुके हैं कि उक्त हस्त-लेख में मध्य-मध्य में लेखकप्रमाद से कुछ सूत्र नष्ट हुए हैं। इनके अतिरिक्त सप्तम प्रकरण में चार सूत्र ऐसे हैं, जो आपिशलीय शिक्षा में नहीं हैं (हमारे द्वारा प्रकाशित वृद्ध पाठ में भी नहीं हैं)। वृद्धपाठ में तो उक्त तीन सूत्रों के अतिरिक्त ७-८ सूत्र और ऐसे हैं, जो आपि-शल शिक्षा में नहीं हैं।

इस संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय ही हैं।

अब हम एक ऐसा प्रमाण भी उपस्थित करते हैं, जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि ये सूत्र प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा पाणिनि के नाम से स्मृत भी हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की **'त्रिरत्न-भाष्य'** नामक व्याख्या का रचयिता **सोमयार्य** लिखता है—

'सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति पाणिनीयेऽपि'। मैसूर संस्क०, पृष्ठ ४५०।

इस प्रमाण की उपस्थिति में पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के सम्बन्ध

---

१. पाणिनि के शिक्षासूत्र के वृद्ध पाठ में 'कार' पाठ मिलता है।

में कोई विवाद उठ ही नहीं सकता। अब हम उसके वृद्धपाठ के विषय में लिखते हैं—

पाणिनीय शिक्षासूत्र का वृद्धपाठ—पाणिनीय शिक्षासूत्रों का जो वृद्धपाठ हम इस संस्करण में प्रकाशित कर रहे हैं, उसकी उपलब्धि की कथा भी विचित्र है। वह इस प्रकार है—

सन् १९३९ में 'दि इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट' कलकत्ता से 'आपिशली शिक्षा' नाम से एक शिक्षा प्रकाशित हुई। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर 'अध्यापक अमूल्यचरण विद्याभूषण कर्तृक सम्पादित और अनूदित' शब्द छपे हुए हैं। इसमें बंगला अनुवाद तो अवश्य है, परन्तु सम्पादन के नाम पर किया जानेवाला कोई भी प्रयत्न इसमें नहीं है। हां, तीन स्थानों पर कोष्ठक में प्रश्नचिह्न (?) अवश्य उपलब्ध होते हैं। अस्तु, हमारे लिए तो यह प्रयत्नाभाव भी वरदान-रूप सिद्ध हुआ। उक्त ग्रन्थ को देखने से विदित होता है कि मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध हस्तलेख की अक्षरशः प्रतिलिपिमात्र है, और वह लेखकप्रमाद से बहुत भ्रष्ट हो गया है। पाठ स्थान-स्थान पर खण्डित और आगे-पीछे हो रहा है।

हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ सन् १९५३ में आया था। इस पर **'आपिशली शिक्षा'** नाम छपा होने से चिरकाल तक हमने इस पर ध्यान नहीं दिया। एक दिन विचार उत्पन्न हुआ कि इसको आपिशल शिक्षा-सूत्र से मिलाया जाय। तब हमने सन् १९४९ में स्वयं मुद्रापित आपिशल शिक्षासूत्रों से मिलान करना आरम्भ किया। उस तुलना में **ङञणनमा नासिकास्थानाः** पाठ ने हमारा ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट किया, क्योंकि यह वर्णानुक्रम पाणिनीय शिक्षा-सूत्र में है। आपिशल शिक्षा में **ञमङणनाः** पाठ है। इसके पश्चात् तृतीय प्रकरण के **विवृतकरणा वा** सूत्र ने यह बोध कराया कि सम्भव है यह शिक्षा पाणिनीय ही हो, आपिशल शिक्षा न हो। इस दृष्टि से सम्पूर्ण सूत्रों की तुलना स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के साथ की,तब यह निश्चय हो गया कि जहां-जहां भी अमूल्यचरण विद्याभूषण द्वारा प्रकाशित शिक्षा का पाठ आपिशल शिक्षा से भिन्न है, वहां-वहां वह सर्वत्र स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों से मिलता है। इस तुलना से इतना निश्चय हो गया कि यह पाठ पाणिनीय शिक्षा का ही है, आपिशल शिक्षा का नहीं।

इस पर विचार उत्पन्न हुआ कि श्री अमूल्यचरणजी ने इस ग्रन्थ के ऊपर **आपिशली शिक्षा** शीर्षक किस आधार पर छापा ? इसके लिए हमने उनकी भूमिका पढ़ी। उसमें उन्होंने इस हस्तलेख के सम्बन्ध में कहीं पर भी नहीं लिखा कि कोश के आदि वा अन्त में 'आपिशली शिक्षा' नाम का उल्लेख है। प्रतीत होता है कि श्री अमूल्य चरणजी ने अष्टम प्रकरण के—

स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति ।।८।।

सूत्र में आपिशलि नाम देखकर ग्रन्थ के आद्यन्त में 'आपिशली शिक्षा' का नाम जोड़ दिया।

अमूल्यचरणजी द्वारा प्रकाशित पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। केवल उसी के आधार पर उस ग्रन्थ का सम्पादन कठिन है। सम्भवतः इसी कारण अमूल्यचरणजी ने हस्तलेख के अनुरूप ही उसे यथातथरूप में छाप दिया। इससे यह भी प्रतीत होता है कि उन्हें डा० रघुवीरजी द्वारा प्रकाशित 'आपिशल शिक्षा,' और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित 'पाणिनीय शिक्षा' का ज्ञान नहीं था, अन्यथा वे उनकी सहायता से ग्रन्थ का अच्छा सम्पादन कर सकते थे।

हमने उक्त दोनों शिक्षासूत्रों के आधार पर, तथा विविध ग्रन्थों में उद्धृत सूत्रों के साहाय्य से इस अमूल्य निधि का सम्पादन किया है। जब हमने इस ग्रन्थ के पाठ का सम्पादन कर लिया, तब इस पाठ और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाठ की तुलना से विदित हुआ कि हमारे द्वारा सम्पादित शिक्षा-पाठ वृद्धपाठ है, और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाठ लघुपाठ है। अनेक प्राचीन ग्रन्थों के वृद्ध और लघुपाठ उपलब्ध होते हैं। पाणिनि के सूत्रपाठ धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ सभी के लघु पाठ और वृद्ध पाठ हैं।[1] इसी प्रकार उनकी सूत्रात्मिका शिक्षा के भी वृद्ध और लघु पाठ हों, तो आश्चर्य ही क्या है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वृद्ध और लघु दोनों प्रकार के पाठ एक ही आचार्य द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रवचन[2] के कारण उत्पन्न हुए हैं।

---

१. इन पाठों के विषय में हमारे 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के तत्तत् प्रकरण देखिए। २. प्राचीन आचार्य शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा नहीं करते थे, अपितु पढ़ाया करते थे, अतः वे प्रोक्त कहाते थे।

अब हम पाणिनीय शिक्षा के दोनों पाठों की कुछ तुलना उपस्थित करते हैं—

लघु-पाठ	वृद्ध-पाठ
[वर्णास्] त्रिषष्टिः	स्थानकरणप्रयत्नेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः ।४।
	चतुःषष्टिरित्येके । ५ ।
	[इति] संयुक्ता वर्णाः ।१।२४।।
आभ्यन्तरस्तावत्	स्वस्थान आभ्यन्तरस्तावत् ।३।४।।
	तेभ्य ए ओ विवृततरौ ।३।९।।
	ताभ्यामै औ । ३।१० ।।
	ताभ्यामाकारः । ३।११ ।।
	कादयो मावसानाः स्पर्शाः । ४।८।।
	यादयोऽन्तस्थाः । ४।९ ।।
अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः ।	एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति—अष्टादश-प्रभेदमवर्णकुलमिति । तत्कथमुक्तम्—ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च । आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः । ६।१२ ।।
	उत्साहः प्रयत्नः । ७।६ ।।
	स्पृष्टतादिर्वर्णगुणः । ७।७ ।।

इन उद्धरणों के विपरीत लघुपाठ में कुछ ऐसे पाठ भी हैं, जो वृद्धपाठ में लघुरूप में हैं, अथवा नहीं हैं । यथा—

लघुपाठ	वृद्धपाठ
द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति ।	द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि ।

सप्तम प्रकरण के निम्न २-५ सूत्र वृद्धपाठ में नहीं हैं—

तत्रैते कौशिकीयाः श्लोकाः—

सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः ।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ।।

⌣क⌣ पयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः ।
पलक्क्नी चख्ख्नतुर्जग्गिमर्जग्घ्नुरित्यत्र यद् वपुः ।।
नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमेऽयमाः ।
तेषामुकारः संस्थानवर्गीयलक्षकः ।।

लघु पाठ में सर्वत्र आवश्यक नहीं कि उस पाठ में वृद्धपाठ की अपेक्षा लघुत्व ही हो। समूहावलम्बन से लघुत्व और वृद्धत्व देखा जाता है। लघुपाठ के सप्तम प्रकरण के जो सूत्र उद्धृत किए हैं, उन के विषय में यह भी सम्भावना हो सकती है कि लघुपाठ के किसी हस्तलेख में ये श्लोक किसी पाठक ने ग्रन्थान्तर से ग्रन्थ के प्रान्त (हाशिये) पर लिखे हों, और उत्तरकाल के प्रतिलिपिकर्त्ता ने उन्हें छूटा हुआ पाठ मानकर मूल में सन्निविष्ट कर दिया हो।

यतः जब तक लघुपाठ का अन्य हस्तलेख उपलब्ध न हो जाए, कुछ समस्याएं बनी ही रहेंगी।

अथ पाणिनीयशिक्षा

वृद्ध-पाठः	लघु-पाठः
१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः। स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥	१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः। स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः।
२. तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः। स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति॥	२. तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः। स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति॥
	३. [वर्णास्] त्रिषष्टिः।
३. स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधाऽनिलः। स्थानं पीडयति, वृत्तिकारः प्रक्रम एषोऽथ नाभिततलात्॥	४. स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधाऽनिलः। स्थानं पीडयति, वृत्तिकारः प्रक्रम एषोऽथ नाभितलात्॥
४. स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः।	
५. चतुःषष्टिरित्येके।[1]	
६. तत्र वर्णानां केषां किं स्थानं किं करणं प्रयत्नश्च ते, द्विधा विजभते (?)।	

१—स्थान-प्रकरणम्

वृद्ध-पाठः	लघु-पाठः
१. तत्र स्थानं तावत्।	
२. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः।[2]	१. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः।

---

१. तुलना कार्या—त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते स्थिताः (मताः) इत्यर्वाचीनायां पाणिनीयशिक्षानाम्ना प्रसिद्धायां शिक्षायाम्।

२. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० सूत्र ५, पृष्ठ २२; १।१।६, पृष्ठ ५८), पदमञ्जर्यां (१।१।६, पृष्ठ ५८) च।

वृद्ध-पाठः	लघु-पाठः
३. ह्विसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम् ।	२. ह्विसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।
४. जिह्वामूलीयो जिह्व्यः ।	३. जिह्वामूलीयो जिह्व्यः ।
५. कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया जिह्व्या एकेषाम् ।	४. कवर्ग ऋवर्णश्च जिह्व्यः ।
६. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ।[1]	५. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ।
७. कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके ।	६. कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके ।
८. इचुयशास्तालव्याः ।[2]	७. इचुयशास्तालव्याः ।
९. ऋटुरषा मूर्धन्याः ।[3]	८. ऋटुरषा मूर्धन्याः ।
१०. रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् ।	९. रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् ।
११. दन्तमूलस्तु तवर्गः ।	१०. दन्तमूलस्तु तवर्गः ।
१२. लृतुलसा दन्त्याः ।[4]	११. लृतुलसा दन्त्याः ।
१३. वकारो दन्त्योष्ठ्यः ।	१२. वकारो दन्त्योष्ठ्यः ।
१४. सृक्किणीस्थानमेकेषाम् ।	१३. सृक्किणीस्थानमेकेषाम् ।
१५. उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ।[5]	१४. उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ।
१६. अनुस्वारयमा नासिक्याः ।[6]	१५. अनुस्वारयमा नासिक्याः ।
१७. कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके ।	१६. कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके ।
१८. यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् ।	१७. यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् ।
१९. ए ऐ कण्ठतालव्यौ ।[7]	१८. एदैतौ कण्ठ्यतालव्यौ ।

१. तुलना कार्या—सर्वमुखस्थानमवर्णमेके इच्छन्ति । महाभाष्य १।१।९॥

२. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० सूत्र ५, पृष्ठ २२; १।१।९, पृष्ठ ५८); पदमञ्जर्यां (१।१।९ पृष्ठ ५८); न्यायमञ्जर्यां (पृष्ठ २०५) च ।

३. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० सू० ५ पृष्ठ २०, २२; १।१।९, पृष्ठ ५८) पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

४. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २२; १।१।९, पृष्ठ ५८); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

५. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २२; १।१।९, पृष्ठ ५८); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

६. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २५; १।१।९, पृष्ठ ५९) ।

७. उद्धृतं न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५८; १।१।४८, पृष्ठ ९२); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
२०. ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ ।[1]	१९. ओदौतौ कण्ठ्योष्ठ्यौ ।
२१. ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः ।	२०. ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः ।
२२. द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि ।	२१. द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति ।
२३. सरेफ ऋवर्णः ।[2]	२२. सरेफ ऋवर्णः ।
२४. [इति] संयुक्ताः वर्णाः ।	
२५. एवमेतानि स्थानानि ।	

२—करण-प्रकरणम्

१. करणमपि ।	
२. जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम् ।	१. जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम् ।
३. जिह्वामूलेन जिह्व्यानाम् ।	२. जिह्वामूलेन जिह्व्यानाम् ।
४. जिह्वामध्येन तालव्यानाम् ।	३. जिह्वामध्येन तालव्यानाम् ।
५. जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम् ।	४. जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम् ।
६. जिह्वाग्राधः करणं वा ।	५. जिह्वाग्राधः करणं वा ।
७. जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम् ।	६. जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम् ।
८. शेषाः स्वस्थानकरणाः ।	
९. इत्येतत् करणम् ।	७. इत्येतदन्तःकरणम् ।

३—अन्तःप्रयत्न-प्रकरणम्

१. प्रयत्नोऽपि द्विविधः ।	१. प्रयत्नोऽपि द्विविधः ।
२. आभ्यन्तरो बाह्यश्च ।	२. आभ्यन्तरो बाह्यश्च ।
३. स्वस्थाने आभ्यन्तरस्तावत् ।	३. आभ्यन्तरस्तावत् ।

---

१. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २८; १।१।९, पृष्ठ ५८; १।१।४८, पृष्ठ ९२); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

२. द्र०—येषां दर्शनमर्धमात्रा कालो रेफ ऋकारेऽस्तीति तन्मतेन···· । येषामपि दर्शनं मात्राचतुर्थभागो रेफ ऋकार इति··· । महाभाष्यप्रदीपे ८।४।१ कैयटः । अत्रापिशलशिक्षायामस्मिन् सूत्रे निर्दिष्टा टिप्पण्यपि द्रष्टव्या ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
४. स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः ।[1]	४. स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः ।
५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः ।[2]	५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः ।
६. ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः ।	६. ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः ।
७. विवृतकरणा वा ।	७. विवृतकरणा वा ।
८. विवृतकरणाः स्वराः ।[3]	८. विवृतकरणाः स्वराः ।
९. तेभ्य ए ओ विवृततरौ ।[4]	
१०. ताभ्यामै औ ।[5]	
११. ताभ्यामकारः ।[6]	
१२. संवृतस्त्वकारः ।[7]	९. संवृतस्त्वकारः ।
१३. इत्येषोऽन्तःप्रयत्नः ।	१०. इत्येषोऽन्तःप्रयत्नः ।

४—बाह्यप्रयत्न-प्रकरणम्

वृद्धपाठः	लघुपाठः
१. अथ बाह्याः प्रयत्नाः ।	१. अथ बाह्याः प्रयत्नाः ।
२. वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः ।[8]	२. वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदानाश्चाघोषाः ।

---

१. उद्धृतं न्यासे(१।१।९, पृष्ठ ५६); पदमञ्जर्यां(१।१।९, पृष्ठ ५७)च ।

२. उद्धृत न्यासे(१।१।९, पृष्ठ ५६)पदमञ्जर्यां; (१।१।९, पृष्ठ ५७) च ।

३. उद्धृतं न्यासे(प्रत्या० सूत्र १, पृष्ठ ८); पदमञ्जर्यां (प्रत्या० १, पृष्ठ १८) च ।

४. उद्धृतं न्यासे(प्रत्या० १, पृष्ठ ८)पदमञ्जर्यां(प्रत्या० १, पृष्ठ १८)च ।

५. उद्धृतं पदमञ्जर्याम् (प्रत्या० १, पृष्ठ १८); न्यासे तु 'ताभ्यामपि ऐ औ' इत्येवं पाठः ।

६. 'ताभ्यामप्याकारः' इत्येवं न्यासे (प्रत्या० १; पृष्ठ ८); पदमञ्जर्यां (प्रत्या० १, पृष्ठ १८) च पाठः ।

७. संवृतोऽकारः, इत्येवं न्यासे (प्रत्या० १, पृष्ठ ८); पदमञ्जर्यां (प्रत्या० १, पृष्ठ १८) च पाठः ।

८. उद्धृतं न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५७; १।१।५०, पृष्ठ ८५); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५७) च ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
३. वर्गयमानां प्रथमा अल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः ।[1]	३. एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः ।
४. वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च ।[2]	४. वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च ।
५. वर्गयमानां तृतीया अन्तस्थाश्चाल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः ।[3]	५. [एकेऽन्तस्थाश्चाल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः] ।
६. यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः ।[4]	६. यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः ।
७. आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ।[5]	७. आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ।
८. कादयो मावसानाः स्पर्शाः ।[6]	
९. यादयोऽन्तस्थाः ।[7]	
१०. शादय उष्माणः ।[8]	८. शादय उष्माणः ।

१. 'वर्गयमानां प्रथमे प्रथमेऽल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः' इत्येवं पदमञ्जर्यां (१।१।६, पृष्ठ ५७); न्यासे (वर्ग्ययमानां' पाठा० १।१।६, पृष्ठ ५७) च पठ्यते ।

२. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २५, १।१।६, पृष्ठ ५७; १।१।५०, पृष्ठ ८५) पदमञ्जर्यां (१।१।६, पृष्ठ ५७) च । पदमञ्जर्यां न्यासे (१।१।६, पृष्ठ ५७); उद्धरणे 'नासिक्याश्च' पदं नास्ति) ।

३. उद्धृतं न्यासे (१।१।६, पृष्ठ ५७; १।१।५०, पृष्ठ ६५—पूर्वोद्धरणे 'वर्ग्य' पाठः); पदमञ्जर्यां (१।६, पृष्ठ ५८—'सर्वे' पदं नास्ति) च ।

४. उद्धृतं न्यासे(प्रत्या० ५, पृष्ठ २५; १।१।६, पृष्ठ ५७), पदमञ्जर्यां (१।१।६, पृष्ठ ५८) च ।

५. उद्धृतं न्यासे (१।१।६ पृष्ठ ५७); पदकञ्जर्यां (१।१।६, पृष्ठ ५८) च ।

६. उद्धृतं न्यासे(१।१।६, पृष्ठ ५७); पदञ्जर्यां (१।१।६, पृष्ठ ५७) च ।

७. न्यासे (१।१।६, पृष्ठ ५७); पदमञ्जर्यां (१।१।६, पृष्ठ ५७) च 'यरलवा अन्तस्थाः' इत्येवं पठ्यते, सोऽर्थतोऽनुवादो द्रष्टव्यः ।

८. उद्धृतं न्यासे (१।१।५० पृष्ठ ६६); पदमञ्जर्यां(१।१।५०, पृष्ठ ६७) च । यतु न्यासे (१।१।६, पृष्ठ ५७); पदमञ्जर्यां (१।१।६, पृष्ठ ५७) च 'शषसहा उष्माणः' इत्येवं पाठ उपलभ्यते, सोऽर्थतोऽनुवादो द्रष्टव्यः ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
११. सस्थानेन द्वितीयाः ।[1]	९. [स]स्थानेन द्वितीयाः ।
१२. हकारेण चतुर्थाः ।[2]	१०. हकारेण चतुर्थाः ।
१३. इत्येष बाह्यः प्रयत्नः ।	

५—स्थानपीडन-प्रकरणम्

१. तत्र स्पर्शयमवर्णकरो वायुरयःपिण्डवत् स्थानमभिपीडयति ।	१. तत्र स्पर्शयमवर्णकरो वायुरयःपिण्डवत् स्थानमभिपीडयति ।
२. अन्तस्थवर्णकरो वायुर्दारुपिण्डवत् ।	२. अन्तस्थवर्णकरो वायुर्दारुपिण्डवत् ।
३. ऊष्मस्वरवर्णकारो वायुरूर्णापिण्डवत् ।	३. ऊष्मस्वरवर्णकारो वायुरूर्णापिण्डवत् ।
	४. उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः ।

६—वृत्तिकार-प्रकरणम्

१. एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति--अष्टादशप्रभेदमवनकुलमिति । तत्कथमुक्तम् ?	
२. ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च । आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः ॥इति।	१. अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः ।
३. एवमिवर्णादयः ।	२. एवमिवर्णादयः ।
४. लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति ।[3]	३. लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति ।
५. तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते ।[4]	४. तं द्वादशभेदमाचक्षते ।

---

१. उद्धृतं न्यासे (१।१।५०, पृष्ठ ९६, ९७); पदमञ्जर्यां (१।१।५० पृष्ठ ९७) च ।

२. उद्धृतं न्यासे(१।१।५०, पृष्ठ ९६, ९७);पदमञ्जर्यां (१।१।५०, पृष्ठ ९७) च।

३. उद्धृतं काशिकायाम्(१।१।९) । ४. उद्धृतं काशिकायाम्(१।१।९) ।

वृद्धपाठः

६. यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्तदाऽष्टादशप्रभेदं ब्रुवते क्लृपक इति ।

७. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति ।[1]

८. तान्यपि द्वादशप्रभेदानि ।[2]

९. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं [च] पठन्ति ।[3]

१०. तेषामष्टादश प्रभेदानि ।

११. अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च ।[4]

१२. रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति ।[5]

१३. वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः ।[6]

लघुपाठः

५. यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्तदाऽष्टादशभेदं ब्रुवते क्लृपक इति ।

६. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति ।

७. तान्यपि द्वादशप्रभेदानि ।

८. अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च ।

९. रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति ।

१०. वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः ।

७—प्रक्रम-प्रकरणम्

वृद्धपाठः

१. एष क्रमो वर्णानाम् ।

२. तत्रैषां स्थानकरणप्रयत्नानां कथं प्रसिद्धिरित्युच्यते ।

लघुपाठः

१. एष क्रमो वर्णानाम् ।

२. तत्रैते कौशिकीयाः श्लोकाः ।

---

१. उद्धृतं काशिकायाम्(१।१।९) । 'पाणिनीयेऽपि' इत्येवं कृत्वोद्धृतः । तैत्तिरीयप्रतिशाख्यस्य त्रिरत्नभाष्ये (मैसूर सं० पृ० ४५०) ।

२. उद्धृतं काशिकायाम् (१।१।९) ।

३. तुलना कार्या—ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते इति । महाभाष्ये प्रत्या० ३; १।१।४७ सूत्रे च ।

४. स्वल्पपाठान्तरेणोद्धृतं काशिकायाम्(१।१।९); पदमञ्जर्यां(प्रत्या० ६, पृष्ठ ३३) च ।

५. उद्धृतं महाभाष्ये(प्रत्या० ५) ;काशिकायां (१।१।९);पदमञ्जर्यां (प्रत्या० ५); न्यासे(प्रत्या० ५) च ।

६. उद्धृतं महाभाष्यदीपिकायां(पृष्ठ १८४ हस्त०)काशिकायां(१।१।९)च

वृद्धपाठः	**लघुपाठः**
	३. सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः । अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ॥
	४. ≍क≍ पयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः । पालिक्क्नी चख्ख्नतुर्जग्मिर्जघ्घ्नुरित्यत्र यद्वपुः ॥
	५. नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमेऽयमाः । तेषामुकारः संस्थान वर्गीय- लक्षकः ॥
	६. उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः ।
३. इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम् ।	७. इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम् ।
४. येन निर्वृत्यन्ते तत् करणम् ।	८. येन निर्वृत्यन्ते तत् करणम् ।
५. प्रयतनं प्रयत्नः ।[1]	९. प्रयतनं प्रयत्नः ।
६. उत्साह प्रयतनः ।	
७. स्पृष्टतादि वर्णगुणः ।	

८—नाभितल-प्रकरणम्

१. [2]तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो[3] नाभिवायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरआदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने	१. तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरआदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने

---

१. उद्धृतं महाभाष्ये (१।१।९) ।

२. न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५६, ५७) अस्य प्रकरणस्य १-२३ सूत्राण्युद्धृतानि ।

३. प्राणो नाम ऊर्ध्वमाक्रमन्नुरःप्रभृतीनामन्यतमस्मिन्—न्यासे । द्रष्टव्यमत्रास्यैव प्रकरणस्याष्टमे चतुर्दशे च सूत्रे नाभिपदम् । लघुपाठे तु 'प्राणो नाम' इत्येव पठ्यते ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
प्रयत्नेन विधार्यते। विधार्यमाणः सोऽपि तत्स्थानानि विहन्ति[1]। तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे, सा वर्णश्रुतिः। स वर्णस्यात्मलाभः।	प्रयत्नेन विधार्यते। [इतिऽग्रे ग्रन्थपातः] **[इति पाणिनीयशिक्षासूत्राणां लघुपाठः॥]**

२. तत्र वर्णानामुत्पद्यमाने[2] यदा स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तं परस्परं स्पृशति[3] सा स्पृष्टता।

३. यदेषत् स्पृशति[4] सा ईषत्स्पृष्टता।

४. यदा दूरेण स्पृशति[5] सा विवृता[6]॥

५. यदा सामीप्येन स्पृशति[7] सा संवृता।[8]

६. एषोऽन्तः प्रयत्नः।[9]

७. अथ बाह्यः प्रयत्नः।[9]

८. स एवेदानीं प्राणो नाभिवायुरू[10] र्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि प्रतिहते[11] निवृत्तः तदा कोष्ठे संहन्यमाने [12]गलबिलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्मो जायते[13], विवृतत्वाद् विवारः।

९. तौ संवारविवारौ।[14]

---

१. स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति। ततः—न्यासे।

२. वर्णध्वनावुत्पद्यमाने—न्यासे।

३. ० प्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति – न्यासे।

४. ईषद् यदा स्पृशन्ति—न्यासे।

५. दूरेण यदा स्पृशन्ति—न्यासे। न्यासे तु चतुर्थपञ्चमसूत्रयोः पौर्वापर्यं विद्यते। ६. द्रष्टव्यमत्रास्यैव प्रकरणम् २६ षड्विंशं सूत्रम्।

७. सामीप्येन यदा स्पृशन्ति—न्यासे।

८. द्रष्टव्यमत्रास्यैव प्रकरणम् २६ षड्विंशं सूत्रम्।

९. नास्ति सूत्रम्—न्यासे।

१०. स एव प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्—न्यासे।

११. प्रतिहतो०—न्यासे।

१२. निवृत्तो यदा कोष्ठमभिहन्ति तदा कोष्ठेऽभिहन्यमाने—न्यासे।

१३. वर्णधर्मं उपजायते—न्यासे। १४. नास्ति सूत्रं—न्यासे।

वृद्धपाठः

१०. तत्र यदा कण्ठबिलं संवृतत्वं तदा नादो जायते ।[1]

११. विवृते तु कण्ठबिले श्वासोऽनुजायते ।[2]

१२. तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते ।[3]

१३. अन्ये श्वासनादानुप्रदानं व्यञ्जने नादवत् ।[4]

१४. तत्र यदा नाभिस्थलजध्वनौ[5] नादोऽनुप्रदीयते, तदा नादध्वनि-संसर्गाद्[6] घोषो जायते ।

१५. यदा श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वास[ध्वनि]संसर्गाद्[7] अघोषो जायते ।[8]

१६. सा घोषवदघोषता ।[9]

१७. महति वायौ महाप्राणः ।

१८. अल्पे वायावल्पप्राणः ।

१९. साल्पप्राणमहाप्राणता ।[10]

२०. [यत्र]महाप्राणत्वम् ऊष्माणस्ते ।[11]

२१. तत्र[12] यदानुसारिप्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां[13] निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाल्पत्व[14] स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते ।

२२. यदा मन्दः प्रयत्नो भवति, तदा गात्राणां[15] प्रसन्नत्वं कण्ठबिलस्य च बहुत्वं[16] स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति । तमनुदात्तमाचक्षते ।

---

१. संवृते गलबिलेऽव्यक्तः शब्दो नादः—न्यासे । न्यासेऽर्थतोऽनुवादः स्यात् ।

२. विवृते श्वासः—न्यासे । न्यासेऽर्थतोऽनुवादः स्यात् ।

३. तौ श्वासनादानुप्रदानाविति केचिदाचक्षते—न्यासे ।

४. अन्ये तु ब्रुवते—अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्रादवत्—न्यासे ।

५. यदा स्थानाभिघातजे ध्वनौ—न्यासे ।

६. ० ध्वनिसंगाद्—न्यासे ।

७. ० ध्वनिसंगाद्—न्यासे ।

८. जायते—नास्ति न्यासे ।

९. सूत्रं नास्ति—न्यासे ।

१०. सूत्रं नास्ति—न्यासे ।

११. सूत्रं नास्ति—न्यासे ।

१२. तत्र—नास्ति । यदा सर्वाङ्गानुसारी—न्यासे ।

१३. गात्रस्य—न्यासे ।

१४. कण्ठविवरस्य चाणुत्वं—न्यासे ।

१५. गात्रस्य स्रंसनं—न्यासे ।

१६. महत्त्वं—न्यासे ।

वृद्धपाठः

२३. उदात्तानुदात्त[1]सन्निकर्षात् स्वरित इति ।
२४. स एवं प्रयत्नोऽभिनिवृत्तः कृत्स्नः प्रयत्नो भवति ।
२५. स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति ।
२६. तद्यथा—स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृता संविवृता च ।
संवारविवारौ श्वासनादौ घोषवदघोषता ।
अल्पप्राणमहाप्राणता उदात्तानुदात्तस्वरिता इति ।
२७. इदानीं शिक्षाग्रन्थः श्लोकैरुपसंह्रियते—
२८. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥
२९. स्पृष्टत्वमीषत्स्पृष्टत्वं संवृतत्वं तथैव च ।
विवृतत्वं च वर्णानामन्तःकरणमुच्यते ॥
३०. कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता ।
घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः ॥
३१. बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः ॥

—: इति पाणिनीयशिक्षासूत्राणां वृद्धपाठः समाप्तः :—

---

१. उदात्तानुदात्तस्वरसन्निकर्षात्—न्यासे ।

छठा परिशिष्ट

जाम्बवती-विजय के उपलब्ध श्लोक वा श्लोकांश

'जाम्बवतीविजय' अपर नाम 'पातालविजय' के सम्बन्ध में इस इतिहास के प्रथम भाग (पृष्ठ २३९–२४०, तृ० सं०) में संक्षेप से, और द्वितीय भाग में 'लक्ष्य-प्रधान काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि' नामक ३० वें अध्याय (पृष्ठ ४२६–४३५, द्वि० सं०) में विस्तार से लिख चुके हैं। महामुनि पाणिनि के इस महान् काव्य के उद्धरण अभी तक जिन २८ ग्रन्थों में उपलब्ध हुए हैं, उनके नाम उसी प्रकरण (पृष्ठ ४३३–४३४)में लिख चुके हैं। अब यहां उन ग्रन्थों में इस महाकाव्य के जितने भी श्लोक वा श्लोकांश उपलब्ध हुए हैं, उन्हें हम नीचे दे रहे हैं। पाठकों को इन उद्धरणों से इस काव्य के शब्द-लालित्य एवं भावसौन्दर्य का कुछ परिचय मिलेगा।

हम (भाग २, पृष्ठ ४३४ द्वि० सं०) लिख चुके हैं कि सब से प्रथम पाणिनीय इस महाकाव्य के उपलब्ध उद्धरणों का संकलन पी० पीटर्सन ने किया था। उसके पश्चात् नये उद्धरणों के साथ पं० चन्द्रधर गुलेरी ने हिन्दी-अनुवाद सहित इनका संग्रह प्रकाशित किया था। तत्पश्चात् दो उद्धरण और उपलब्ध हुए हैं। हम प्रथम पं० चन्द्रधर गुलेरी के संकलनानुसार उद्धरण दे रहे हैं, पश्चात् नये उद्धरण दिये जायगे। पं० चन्द्रधर गुलेरी का भाषानुवाद भी स्वल्प शोधन के साथ दिया जा रहा है।

(१)

अस्ति प्रतीच्यां दिशि सागरस्य वेलोर्मिगूढे [1]हिमशैलकुक्षौ।
पुरातनी विश्रुतपुण्यशब्दा महापुरी द्वारवती च नाम्ना ॥[2]

---

१. यहां 'हिमशैल' शब्द विचारणीय है। द्वारका के आसपास के पर्वतों पर बर्फ नहीं जमती। सम्भव है हिम शब्द ठण्डे अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, अथवा शान्त ज्वालामुखी पर्वत की ओर इसका संकेत हो।

२. दुर्घट वृत्ति ४।३।२३। पृष्ठ ८२ (प्र० सं०)—'तथा च जाम्बवती विजये पाणिनिनोक्तम् ····· इति द्वितीय सर्गे।'

पश्चिम दिशा में सागर की लहरों से बरफोले पहाड़ की कोख में प्राचीन और प्रसिद्ध 'द्वारका' नामक महापुरी थी।

(२)

अनेन यात्रानुचितं धराधरैः पुरातनं साजलतं (?) महीक्षिताम्।
ददर्श सेतुं महतो जरन्तया(?)विशीर्णसीमन्त इवोदय(?क)श्रिया ॥[1]

पाठ अशुद्ध है। ठीक अर्थ समझ नहीं पड़ता।

(३)

त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनम्।
चिराय चेतसि पुनस्तरुणीकृतमद्य मे ॥[2]

जो मित्रता मैंने तेरे साथ सम्पादन की और जो पुरानी है, आज वह बहुत दिनों पीछे मेरे चित्त में फिर नई सी हो गई।

(४)

बार्हद्रथं येन विवृत्तचक्षुर्विहस्य सावज्ञमिदं बभाषे।[3]

इसी से अवज्ञा के साथ आंखें बदल कर हंसते-हंसते यह कहा।

(५)

सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भानुः।[4]

सूर्य अपनी सन्ध्यारूपिणी वधू को हाथ से पकड़ कर।

(६)

स पार्षदैरम्बरमपुपुरे।[5]

उस शिव ने अपने गणों के साथ आकाश को भर दिया।

---

१. दुर्घटवृत्ति ४।३।२४ पृष्ठ ८२ (प्र० सं०)—'......इति चतुर्थे।'

२. वहीं, '—...... इत्यष्टादशे'।

३. गणरत्नमहोदधि (इटावा संस्क०) पृष्ठ ७—'तथाहि जाम्बवती-हरणे।'

४. नमि साधु कृत रुद्रट काव्यालंकार टीका।

५. अमरकोश—पदचन्द्रिका टीका (रायमुकुट)—'इति जाम्बवत्यां पाणिनिः। अमरकोश कां० १, वर्ग १, श्लोक ३१ में शिव के गण के लिये 'परिषत्' शब्द आया है, उसका रूपान्तर 'पार्षद' पाणिनि प्रयोग दिया है।

(७)

पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टा ला (वा ?) न्ति वाताः शनैः-शनः ।[1]

पानी के फुहारों से छुई हुई वायु धीरे-धीरे बह रही है।

(८)

स सृक्किणीप्रान्तमसृक्प्रदिग्धं प्रलेलिहानो हरिणारिरुच्चकैः ।[2]

लोहू लगे हुए होठों के कोनों को पुनः-पुनः चाटता हुआ वह सिंह जोर से।

(९)

हरिणा सह सख्यं ते बोभूत्विति यदब्रवीः ।
न जाघटीति युक्तौ तत् सिंहद्विरदयोरिव ॥[3]

जो तूने यह कहा है कि हरि के साथ तेरी मित्रता हो, तो यह युक्ति में संघटित नहीं होता, जैसे कि सिंह और हाथी की मित्रता।

(१०)

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः ।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुंकरोति ॥[4]

पावस में आधी रात बीत जाने पर मेघ धीरे-धीरे गरजते हैं, मानो रात गौ है, चन्द्रमा उसका बछड़ा है। बछड़े को (बादलों में छिपे हुए चांद को) न देखकर रात्रि रूपी गौ रंभा रही है।

---

१. अमरकोश-पदचन्द्रिका टीका (रायमुकुट)—'इति जाम्बवती विजय-वाक्यम् ।' अमर १।१०।६ में 'पृषत्' शब्द जलबिन्दु के लिये नपुंसक लिङ्ग दिया है। पाणिनि ने स्त्रीलिङ्ग ह्रस्व इकारान्त 'पृषन्ति' का प्रयोग किया है। यहां केवल काव्य का नाम है, कवि का नहीं।

२. वही, अमरकोश २।६।६१ में होठों के कोनों के लिये 'सृक्वन्' पद नपुंसकलिङ्ग दिया है। पाणिनि ने ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग का व्यवहार किया है। आफ्रेक्ट ने हलायुध की रत्नमाला की सूची में भी इसका उल्लेख किया है।

३. रामनाथ की कातन्त्र धातुवृत्ति, भाषावृत्ति २।४।७४—'इति पाणिने-र्जाम्बवतीविजयकाव्यम् ।' भाषावृत्ति में 'संख्य' (=लड़ाई) पाठ है।

४. नमि साधु कृत रुद्रट काव्यालंकार टीका—'तस्यैव कवेः' । 'अपश्यती' के स्थान में 'अपश्यन्ती' होना चाहिये।

(११)

तन्वङ्गीनां[1] स्तनौ दृष्ट्वा शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरसंलग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥[1]

कोमलाङ्गी नारियों के स्तनों को देखकर जवान आदमी सिर धुनता है। जैसे कि उनमें निगाह फंस गई है, उसे हिला-हिलाकर उखाड़ रहा है।

(१२)

उपोढरागेन विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽतिरागाद् गलितं न वीक्षितम् ॥[2]

चन्द्रमा (नायक) ने रात्रि (नायिका) का मुख (प्रदोषकाल-वदन) जिसमें तारे (आंखों की पुतलियां) चंचल हो रहे थे, राग (ललाई-प्रीति) बढ़ जाने से यों पकड़ा कि उसे अन्धकाररूपी वस्त्र (दुपट्टा) सारे का सारा खिसकता हुआ जान ही न पड़ा।

(१३)

पाणौ पद्मधिया मधूकमुकुलभ्रान्त्या तथा गन्डयोर्
नीलेन्दीवरशङ्कया नयनयोर्बन्धूकबुद्ध्याऽधरे ।
लीयन्ते कबरीषु बान्धवजनव्यामोहबद्धस्पृहा ।
दुर्वारा मधुपाः कियन्ति सुतनु स्थानानि रक्षिष्यसि ॥[3]

भला सुन्दरी ! तुम अपने कितने अङ्गों को इन भौंरों से बचाओगी ? ये तो पीछा छोड़ते दिखाई देते। हाथों को कमल, कपोलों को महुवे की कलियां, आंखों को नीलकमल, अधर को बन्धूक, और केशपाश को अपने भाई-बन्धु समझकर वे बढ़े चले आते हैं।

---

१. कवीन्द्रवचन समुच्चय में पाणिनि के नाम से, दशरूपक और वाग्भट्ट के काव्यालंकार में विना नाम के।

२. सदुक्ति कर्णामृत में नाम से, जल्हण की सूक्ति मुक्तावली में नाम से, वल्लभदेव की सुभाषितावली में नाम से। सुभाषितरत्नकोष, सूक्ति मुक्तावली-सार संग्रह, ध्वन्यालोक, अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक), काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) और अलङ्कारतिलक में विना नाम के।

३. सदुक्तिकर्णामृत में नाम से, कवीन्द्रवचन समुच्चय और अलङ्कारशेखर में विना नाम के, शार्ङ्गधरपद्धति और पद्यरचना में 'अचल' के नाम से।

(१४)

असौ गिरेः शीतलकन्दरस्थः पारावतो मन्मथचाटुदक्षः ।
घर्मालसाङ्गीं मधुराणि कूजन् संवीजते पक्षपुटेन कान्ताम् ॥[1]

पहाड़ की शीतल गुफा में बैठा हुआ, काम के चोंचलों में निपुण वह कबूतर मीठी बोली बोलकर गरमी से व्याकुल कबूतरी को अपने पंखों (परों) से पंखा कर रहा है।

(१५)

उद्‍ब (? ब)हेम्यः सुदूरं घनजनिततमःपूरितेषु द्रुमेषु
प्रोद्ग्रीवं पश्य पादद्वयनमितभुवः श्रेणयः फेरवाणाम् ।
उल्कालोकैः स्फुरद्भिर्निजवदनदरीसर्पिभिर्वीक्षितेभ्यः
श्च्योतत् सान्द्रं वसाम्भः कुथितशववपुमण्डलेभ्यः पिबन्ति ॥[2]

देखिये, बादलों के छा जाने से दूरतक अंधेरा हो रहा है, पेड़ों से लाशें लटक रही हैं, उनमें से मज्जा बह रही है, शृगाल के मुंह से आग निकला करती है, उसी के प्रकाश में लाशों को देखकर शृगालों की पांत की पांत गर्दन ऊँची किये और पृथिवी को पैरों से चांपकर घना मज्जा को पी रही हैं।

(१६)

कल्हारस्पर्शगर्भैः शिशिरपरिचयात् कान्तिमद्भिः कराग्रैश्
चन्द्रेणालिङ्गिता यास्तिमिरनिवसने स्रंसमाने रजन्याः ।
अन्योन्यालोकिनीभिः परिचयजनितप्रेमनिःस्यन्दिनीभिर्
दूरारूढे प्रमोदे हसितमिव परिस्पष्टमाशासखीभिः ॥[3]

शिशिर ऋतु आगई है, चन्द्रमा की किरणें शीतल और प्रकाशमान हो गई हैं। चन्द्रमा (नायक) ने अपनी किरणों (हाथों) को बढ़ाकर रात्रि (नायिका) का आलिङ्गन किया, उसका अन्धकाररूपी वस्त्र खिसकने लगा। इस पर दिशाएं (उसकी सखियां) बहुत आनन्दित होने से खिलखिला कर हंस पड़ीं, चारों ओर प्रकाश फैल गया।

---

१. सदुक्तिकर्णामृत में नाम से।

२. वहीं, नाम से। ३. वहीं, नाम से।

(१७)

चञ्चत्पक्षाभिघातं ! ज्वलितहुतप्रौढधाम्नश्चितायाः
क्रोडाद् व्याकृष्टमूर्तेरहमहमिकया चण्डचञ्चुग्रहेण ।
सद्यस्तप्तं शवस्य ज्वलदिव पिशितं भूरि जग्ध्वार्धदग्धम्
पश्यान्तः प्लुष्यमाणः प्रविशति सलिलं सत्वरं गृद्धवृद्धः ।।[1]

चिता धधक रही है। अधजले मुर्दे का मांस झपटने के लिए गीधों की होड़ाहोड़ी हुई। एक बुड्ढे गीध ने औरों को डैनों की मार से भगा दिया, और चोंच से पकड़कर मांस खींच लिया। वह जल्दी से बहुत सा जलता हुआ मांस खागया और भीतर जलने लगा, तो दौड़कर ठण्डक के लिये पानी में घुस रहा है।

(१८)

पाणौ शोणतले तनूदरि सूक्ष्माभा कपोलस्थली
विन्यस्ताञ्जनदिग्धलोचनजलैः किं म्लानिमानीयते ।
मुग्धे चुम्बतु नाम चञ्चलतया भृङ्गः क्वचित् कन्दलीम्
उन्मीलन्नवमालतीपरिमलः किं तेन विस्मार्यते ।।[2]

सखी खण्डिता नायिका से कहती है- कृशोदरि! लाल हथेलियों पर कृश कपोल को रखकर काजलवाले आंसुओं से उसे क्यों म्लान कर रही हो ? भोली! भौंरा चञ्चलता से कहीं जाकर कन्दली को भले ही चख आवे, किन्तु क्या इससे वह नई खिली मालती के सुवास को कभी भूल सकता है ?

(१९)

मुखानि चारूणि घनाः पयोधराः
नितम्बपृथ्व्यो जघनोत्तमश्रियः ।
तनूनि मध्यानि च यस्य सोऽभ्यगात्
कथं नृपाणां द्रविडीजनो हृदः ।।[3]

जिनके सुन्दर मुख, घने स्तन, भारी नितम्ब, उत्तम जघन, और

---

१. सदुक्तिकर्णामृत में नाम से ।

२. वहीं, नाम से; कवीन्द्र-वचन-समुच्चय में बिना नाम के ।

३. वहीं, नाम से ।

कृश मध्यभाग हैं, वे द्रविड़ देश की स्त्रियां राजाओं के मन से कसे निकल गईं ?

(२०)

क्षपाः क्ष्मामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।
क्व सम्प्रत्युष्णांशुर्गत इति समालोकनपरास्
तडिद्दीपालोका दिशिदिशि चरन्तीह जलदाः ।।[1]

(वर्षा ऋतु का वर्णन है) जिसने रातों को कृश (छोटी) कर दिया, बलात्कार से नदियों का पानी चुरा लिया (सुखा दिया), सारी पृथिवी को संतप्त कर दिया, जंगल के सारे वृक्षों को सुखा दिया। ऐसा अपराधी सूर्य अब कहां चला गया ? इसीलिए बिजली के दीपक हाथ में लिए मेघ सब दिशाओं में उसे ढूंढ़ते फिर रहे हैं।

(२१)

अथाससादास्तमनिन्द्यतेजा जनस्य दूरोज्झितमृत्युभीतेः ।
उत्पत्तिमद् वस्तु विनाश्यवश्यं यथाहमित्येवमिवोपदेष्टुम् ।।[2]

दीप्तिमान् सूर्य अस्त हो गया। मानो वह उन लोगों को, जिन्होंने मृत्यु का भय बिलकुल छोड़ दिया है, यह उपदेश देने के लिए कि 'जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है उसका विनाश अवश्यंभावी है जैसे कि मेरा'।

(२२)

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ।।[3]

शरद् ऋतु (नायिका) ने सूर्य (नायक) का सन्ताप (तपन-जलन) बहुत बढ़ा दिया। क्यों न हो, वह उज्ज्वल पयोधरों (मेघों-स्तनों) पर ताजा नखक्षत के समान इन्द्र (प्रतिनायक) का धनुष दिखा रही है, और सकलङ्क चन्द्रमा (प्रतिनायक) को प्रसन्न (निर्मल-आनन्दित) कर रही है।

---

१. सूक्तिमुक्तावली, सुभाषितावली, सभ्यालंकरण संयोगशृङ्गार, पद्यरचना में नाम से। सदुक्तिकर्णामृत में श्रोकण्ठ के नाम से। कवीन्द्रवचनसमुच्चय और सुभाषितरत्नकोश में विना नाम के।

२. सुभाषितावली में नाम से। ३. सुभाषितावली में नाम से।

(२३)

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो
मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किं नु वान्तश्
चन्द्रोदयमित्यार्त्ततरं ररास ॥[1]

रात्रि में बादल ने बिजली की आंख से अभिसारिका का मुख देखा। देखकर उसे संदेह हुआ कि कहीं मैंने जलधाराओं के साथ चन्द्रमा को तो नहीं गिरा दिया है ? इस पर वह और भी अधिक कड़कने (रोने-पीटने) लगा।

(२४)

प्रकाश्य लोकान् भगवान् स्वतेजसा
प्रभादरिद्रः सविताऽपि जायते।
अहो चला श्रीर्बलमानदा (?) महो
स्पृशन्ति सर्वं हि दशाविपर्यये ॥[2]

अपने तेज से सब लोकों को प्रकाशित करके सूर्य भी अन्त में प्रभा से रहित हो जाता है। लक्ष्मी चञ्चल है, सभी को विपरीत काल में बल और मान को घटाने वाली दशा आ जाती है (मूल कुछ अस्पष्ट है)।

(२५)

विलोक्य सङ्गमे रागं पश्चिमाया विवस्वतः।
कृतं कृष्णमुखं प्राच्या नहि नार्यो विनेर्ष्यया ॥[3]

सूर्य के संगम होने पर पश्चिम दिशा का राग (प्रेम—ललाई) देखकर पूर्व दिशा ने अपना मुंह काला (अंधिया=रुवाना कर) लिया। भला कभी स्त्रियां ईर्ष्यारहित हो सकती हैं ?

---

१. सुभाषितावली में, नाम से। कुवलयानन्द, अलङ्कार-कौस्तुभ, प्रतापरुद्र-यशोभूषण (टीका) में विना नाम के।

२. सुभाषितावली में, नाम से।

३. वहीं, नाम से। शार्ङ्गधर पद्धति में 'कस्यापि'।

(२६)

शुद्धस्वभावान्यपि संहतानि
निनाय भेदं कुमुदानि चन्द्रः ।
अवाप्य वृद्धि मलिनान्तरात्मा
जडो भवेत् कस्य गुणाय वक्रः ॥[1]

चन्द्रमा ने शुद्ध स्वभावयुक्त और मिलकर रहनेवाले कुमुदों में भी भेद डाल दिया (खिला दिया) । भला जिसका पेट मैला हो जो जड़ (जलमय) और टेढा हो वह बढ़कर किसे निहाल करेगा ?

(२७)

सरोरुहाणि निमीलयन्त्या रवौ गते साधुकृतं नलिन्या ।
अक्ष्णां हि दृष्ट्वापि जगत् समग्रं फलं प्रियालोकनमात्रमेव ॥[2]

सूर्य अस्त हो गया । नलिनी ने कमलरूप नेत्र मूंद लिए । बहुत अच्छा किया । आंखों से चाहे सब कुछ देखते रहें, परन्तु उनका फल वो प्रिय को देखना मात्र ही है न ?

(२८)

करीन्द्रदर्पच्छिदुरं मृगेन्द्रम् ।[3]

गजराजों के दर्प के दमनशील मृगराज को ।

इन २८ उद्धरणों में संख्या १,२,३,४,२८ पं० चन्दधर गुलेरी द्वारा गृहीत हैं । शेष पी० पिटर्सन द्वारा *JRAS* १८६१ (पृष्ठ ३१३ ३१६) में प्रकाशित किये गए थे ।

अब हम उन उद्धरणों को प्रकाशित करते हैं, जो अभी-अभी प्रकाश में आये हैं ।

काफिरकोट के पास से पाकिस्तान के अधिकारियों को भामह के काव्यालङ्कार की टीका की एक जीर्ण प्रति उपलब्ध हुई है । यह अभी प्रकाशित हुई है । उसके पृष्ठ ३४ के अन्त और पृष्ठ ३५ के आदि में निम्न पाठ हैं —

---

१. वहीं, नाम से ।

२. वहीं, नाम से । ३. भाषावृत्ति ३।२।१६२ में नाम से ।

—···इदमुदाहरणं समासोक्तेः—उपोढ [············]
पराऽपि मोहाद् गलितं न रक्षित (म्)। अत्र शशिरजनी व्याषाण-
परे य प्र× ××सह×त।

यह 'उपोढ ·····गलितं न रक्षितम्' पाठ (जो मध्य में त्रुटित एवं भ्रष्ट है) पाणिनीय काव्य का है। इसका पूरा पाठ पूर्व संख्या १२ पर देखें।

उक्त टीका ग्रन्थ उद्भट का विवरण है, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। यह भोजपत्र पर १० शती की शारदा लिपि में लिखा हुआ है।

सुभाषित रत्नकोश का सन् १९५७ में हार्वर्ड विश्वविद्यालय से एक सुन्दर संस्करण छपा है। इसके सम्पादक हैं—डी०डी० कोसाम्बी और वी० वी० गोखले। इस संस्करण के अन्त में परिशिष्ट में 'नन्दन'कृत 'प्रसन्न-साहित्य-रत्नाकर' में संगृहीत कतिपय कवियों के वचनों का संग्रह किया गया है। इसमें पृष्ठ ३३१ पर पाणिनि के निम्न दो श्लोक उद्धृत हैं—

(२९-३०)

अनडुहि जितनीडजेन्द्रवेगे कृतनिबिडासनमुज्झिताध पीडे।
स्मरशमनतडित्कडारदृष्टिं मृडमुडुराडुपशोभिचूडमीडे॥

हरकोपानलप्लुष्टविरूढस्मरशाखिनः।
अयमाभाति तन्वङ्ग्याः पाणिः प्रथमपल्लवः॥

पक्षिराज गरुड से भी शीघ्रगामी, प्रसन्न मन बैल पर अपना अडि आसन लगाये, अपनी कोप दृष्टि से कामदेव को भस्म करने वाले, चन्द्रचूड़ भगवान् शिवशंकर की मैं स्तुति करता हूं।

तन्वङ्गी का यह हाथहर (महादेव) के कोप रूप अग्नि से दग्ध कामदेव रूपी वृक्ष का झड़ा हुआ नवीन पल्लव रूप प्रतीत होता है।

इसी प्रकरण में **धर्मपाणिनि** के नाम से एक श्लोक उद्धृत है। यह धर्मपाणिनि कौन है यह ज्ञातव्य है। श्लोक इस प्रकार है—

नीलाम्भोरुहकानने न विशति ध्वान्तोत्कराशङ्कया
स्वक्रीडोच्छलिताश्च वारिकणिकास्ताराभ्रमात् पश्यति।
सत्रासं मुहुरीक्षते च चकितो हंसं हिमांशुभ्रमान्
न स्वास्थ्यं भजते दिवापि विरहाशङ्की रथाङ्गाह्वयः॥

वियोग की आशंका से चक्रवाक नीलकमलों के समूह को रात्रि का अन्धकार समझकर उनमें प्रवेश नहीं कर रहा है। अपनी जल क्रीड़ाओं में उछाले गए जल के कणों को तारे समझ कर उन्हें निहार रहा है, और चकित होकर सूर्य को चन्द्रमा समझकर पुनः पुनः उसे देख रहा है। इस प्रकार वह बेचारा दिन में भी चैन का अनुभव नहीं कर पा रहा है।

यह श्लोक सदुक्तिकर्णामृत २।१४।२ में धर्मपाल के नाम से स्मृत है।

।। इति जाम्बवतीविजय-काव्योद्धरण-संकलनं समाप्तम् ।।

सातवां परिशिष्ट

संशोधन परिवर्तन परिवर्धन

[प्रथम भाग में]

संशोधन—पृष्ठ ४, पं० ८ 'देव लोग जिस' के स्थान में 'देव जिस' पढ़ें।

परिवर्धन—पृष्ठ १५, पं० १७ 'निष्पन्न हुआ है' से आगे बढ़ावें—'प्राकृत भाषा में—जीहं जीहा शब्द प्रयुक्त होते हैं। जिह्वा शब्द का एक रूपान्तर प्रकार यह है—जिह्वा=जिव्हा=जिब्भा, जिभ्भा। यहां हकार उत्तरवर्ती पहले व का पूर्व प्रयोग हुआ। यथा—चिह्न=चिन्ह। पश्चात् 'ह' का 'भ' हुआ 'व' को ब और भ।'

परिवर्धन—पृष्ठ १६, पं० ३१ 'पांचवां व्याख्यान।' के आगे बढ़ावें—'पृष्ठ संख्या ३८, रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण।'

परिवर्धन—पृष्ठ १८, पं० ३० 'अ० १८।१,२५॥' किसी संस्करण में १८ वां अध्याय १७ वां भी है।

संशोधन—पृष्ठ २२, पं० ३० '२७ व्यासों ऐतरेय' के स्थान में '२७ व्यासों तथा ऐतरेय' पढ़ें ।

परिवर्धन—पृष्ठ २२, पं० ३२ 'द्र०—१७।२७,२८॥' के आगे बढ़ावें—'प्रतीत होता है कि भरत के समय अनेक वैदिक पद लोकभाषा में अप्रयुक्त हो चुके थे। अतएव उसने वैदिक भाषा को लौकिक भाषा की तुलना में **अतिभाषा** कहा है।'

संशोधन—पृष्ठ २७, पं० १९ '१।१।७॥' के स्थान में १।१।७३' पढ़ें।

परिवर्धन—पृष्ठ ३२, पं० २ 'मिलता है' के आगे बढ़ावें–'सांख्यदर्शन ५।११८ में भी इसका प्रयोग मिलता है।' (इस पर टिप्पणी—'द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वात्। तृतीयस्येत्यर्थः।'

परिवर्धन—पृष्ठ ३२, पं० २२ '१२।१६।।' के स्थान में '१२।१६;२०।११;'।

परिवर्धन—पृष्ठ ३३, पं० २४ '६।४।३।।' के आगे बढ़ावें—'तथा—नैकमुदाहरणमसवर्णग्रहणं प्रयोजयति। महाभाष्य ६।१।१२।।'

संशोधन—पृष्ठ ३४, पं० २५ 'जैनशाकटायन लघुवृत्ति' के स्थान में 'जैन शाकटायन अमोघावृत्ति और लघुवृत्ति' पढ़ें।

परिवर्धन--पृष्ठ ४० पं० १ 'विंशत्' पर टिप्पणी बढ़ावें—'महाभाष्य ५।२।३७ के "**शन्शतोर्डिनिः**" वार्तिक से त्रिंशत्' से जैसे "त्रिंशिनः" प्रयोग बनता है, उसी प्रकार 'विंशत्' से भी "विंशिनः" बन जायेगा। "**विंशतेश्च**" उत्तर वार्तिक विंशति शब्द के लिए जानना चाहिए।'

परिवर्धन—पृष्ठ ४०, पं० २६ 'हो गया' के आगे बढ़ावें—'द्र०—बृहद् विमानशास्त्र ब्रह्ममुनि सम्पादित, पृष्ठ ७४।'

परिवर्धन—पृष्ठ ४२, पं० १६ 'प्रदीप २।४।३४।।' से आगे बढ़ावें—'भट्ट कुमारिल भी लिखता है—"यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः, तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुपलक्षितरूपाणि च।" तन्त्रवार्तिक १।३।१२।। पृष्ठ २६६, पूना सं०।'

परिवर्धन—पृष्ठ ४३, पं० ९ से आगे नई पङ्क्ति से—'पाणिनि ने 'क्त्वा' प्रत्यय का षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति में क्त्वः क्त्वि रूप का प्रयोग किया है। यथा—

क्त्वो ल्यप्। अ० ७।१।३७।। **जॄव्रश्च्योः क्त्वि**। अ० ७।२।५५।। पाणिनीय नियम (अ० ६।४।१४०) के अनुसार भसंज्ञक धातु के आकार का ही लोप होता है। तदनुसार 'क्त्वा' प्रत्यय के आकार का लोप नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार **हलः श्नः शानज्झौ** (अ० ३।१।८३)सूत्र में 'श्न.' प्रयोग भी द्रष्टव्य है। अन्य वैयाकरण इस प्रकार के प्रयोगों को सौत्र अथवा अपशब्द मानकर **क्त्वायाम्** (द्र०—कात्या० १।२।१ वा०, काशिका ७।२।५०,५४) तथा 'टा' तृतीयैकवचन के **टायाः टायाम्** (महाभाष्य प्रदीप १।१।३६) रूपों का प्रयोग करते हैं। यहां भी **याडापः** (अ० ७।३।११३) से 'याट्' आगम की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ये 'क्त्वा' 'टा' प्रत्यय टाबन्त नहीं हैं।'

संशोधन—पृष्ठ ४३, पं० ११ 'अपाणिनीयप्रामाणिकता' के स्थान में 'अपाणिनीयप्रमाणता' पढ़ें ।

संशोधन—पृष्ठ ४३, पं० २८ 'पुरुषोत्तमदेव ने परिभाषा वृत्ति में' के स्थान में 'भाष्यव्याख्या-प्रपञ्च में' पढ़ें ।

संशोधन—पृष्ठ ४३, पं० २९ 'द्र०—पृष्ठ १२६' के स्थान में 'द्र०—पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति, परिशिष्ट ३, पृष्ठ १२६' पढ़ें ।

संशोधन—पृ० ४३, पं० ३०, टिप्पणी २ के स्थान में—'तृतीय भाग में प्रथम परिशिष्ट में छाप रहे हैं' पढ़ें । यह भाग भी छप गया है ।

संशोधन—पृष्ठ ४५, पं० १४ '१९.' के स्थान में '१८.' पढ़ें ।

परिवर्धन—पृष्ठ ४६, पं० ३० 'योऽस्मत्पाकतरः' पर टि०—'यह मन्त्रांश का० श्रौत २।२।२१ में मिलता है ।'

परिवर्धन—पृष्ठ ५०, पं० ६ 'प्रयोग है' से आगे बढ़ावें—'इसी **गृभ ग्रहणे** धातु से ही फारसी में **गिरिफ़्त**' शब्द बना है ।'

परिवर्धन—पृष्ठ ५१, पं० १ 'ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते' के स्थान में 'प्रायः उपलब्ध नहीं होते' पढ़ें । तथा आगे बढ़ावें—'देवी-पुराण (देवी भागवत से भिन्न) में भौवादिक कृञ् का प्रयोग मिलता है—

'शून्यध्वजं सदा भूता नागगन्धर्वराक्षसाः ।
विद्रवन्ति महात्मानो नानाबाधां करन्ति च ॥३५।२७॥'

परिवर्धन—पृष्ठ ५२, पं० १९ 'मेऽक्षीणि' पर टिप्पणी—'इस ऊहितरूप का प्रयोग महाभाष्य १।४।२१ में मिलता है—'अक्षीणि मे दर्शनीयानि, पादा मे सुकुमाराः ।'

परिवर्धन—पृष्ठ ५८, पं० २२ 'प्रवक्ता ब्रह्मा है' के आगे बढ़ावें—'युवान् चांग (ह्यूनसांग) ने भी अपने भारत-विवरण में पाणिनि के प्रकरण में ब्रह्मदेवकृत व्याकरण का निर्देश किया है । द्र०—पृष्ठ १०६ (इण्डियन प्रेस प्रयाग मुद्रित, सन् १९२९)।'

परिवर्धन—पृष्ठ ५९, पं० २१ 'बृहस्पति है' के आगे बढ़ावें—ब्रह्मवैवर्त प्रकृतिखण्ड अ० ८।२८ में बृहस्पति के व्याकरणशास्त्र के प्रवचन का उल्लेख मिला है । यथा :-

'पप्रच्छ शब्दशास्त्रं च महेन्द्रश्च बृहस्पतिम् ।
दिव्यं वर्षसहस्रं च स त्वादध्यौ पुष्करे ।।
तदा त्वत्तो वरं प्राप्य दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।
उवाच शब्दशास्त्रं च तदर्थं च सुरेश्वरम् ।।'

परिवर्धन—पृष्ठ ६०, पं०६ 'मिलता है' के आगे बढ़ावें—'बृहस्पति ने नारद को सामों का उपदेश किया था। साम ब्राह्मण ३।६।३ में लिखा है—**बृहस्पतिर्नारदाय**।'

परिवर्धन तथा संशोधन—पृष्ठ ७२ पं० २१ से आगे संख्या १० से १८ तक निम्न प्रकार पाठ होना चाहिए—

१०. बुद्धिसागर सूरि	·········	(सं० १०८०)।
११. भद्रेश्वर सूरि	दीपक	(सं० १२०० से पूर्व)।
१२. वर्धमान	·········	(सं० ११५०–१२२५)।
१३. हेमचन्द्र सूरि	हैमव्याकरण	(सं० ११४५–१२२९)।
१४. मलयगिरि	·········	(सं० ११८८–१२५०)।
१५. क्रमदीश्वर	संक्षिप्तसार	(सं० १३०० से पूर्व)।
१६. सारस्वतव्याकरणकार	······	(सं० १२५० के लगभग)।
१७. वोपदेव	मुग्धबोध	(सं० १३२५–१३७०)
१८. पद्मनाभ	सुपद्म	(सं० १४००)।

परिवर्धन— ७४, पृष्ठ पं० ८ के आगे नया सन्दर्भ (पैरा) बढ़ावें—

'पुरुषोत्तमदेवकृत परिभाषावृत्ति राजशाही (बंगाल) संस्करण के अन्त में अनुबन्ध ३ में भाष्य-व्याख्या-प्रपञ्च का जो अंश छपा है उसमें **समुद्रवद् व्याकरणं** श्लोक का पाठ इस प्रकार है—

समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे ततोऽम्बुकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दुग्रथितं हि पाणिनौ ।।

परिवर्धन—पृष्ठ ७९, पं० २५ 'आवश्यकता नहीं रहती है।' के आगे बढ़ावें—'महाभाष्य ६।१।९३ में **आ गोत इति वक्तव्यम्** न्यासान्तर पर कैयट ने लिखा है—'**गोत इत्योकारान्तोपलक्षणार्थं व्याख्येयम्**' में उपलक्षणार्थता की भी आवश्यकता नहीं रहती। यहां भी **गोतः** में 'गो' ओकारान्त शब्दों की संज्ञा जाननी चाहिए।'

परिवर्धन—पृष्ठ ८०, पं० १६ 'उल्लेख है' के आगे बढ़ावें—ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में मं० १० सू० ४७ तथा आगे के कुछ सूक्तों का ऋषि **इन्द्र वैकुण्ठ** मिलता है। तदनुसार इन्द्र की माता का नाम 'विकुण्ठा' विदित होता है।

संशोधन—पृष्ठ ८४, पं० २ 'सोमेश्वर सूरि' के स्थान में 'सोमदेव सूरि' पढ़ें।

संशोधन—पृष्ठ ९०, पं० ३३,३४—'एकविंशति भरद्वाजम्। ···शाकटायन लघुवृत्ति' के स्थान में 'एकविंशति भारद्वाजम्। ··· ······शाकटायन अमोघा और लघुवृत्ति' पढ़ें।

परिवर्धन—पृष्ठ ९१, पं० १६ 'प्रवक्ता है' के आगे बढ़ावें—'रामायण बालकाण्ड २।२१ के अनुसार भरद्वाज वाल्मीकि का शिष्य था।'

परिवर्धन—पृष्ठ ९९, पं० २९ '४. तद्धित ४५४।' के आगे बढ़ावें—'द्र०—पं० गुरुपद हालदारकृत 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' भाग १, पृष्ठ ४९६। हमें संक्षिप्तसार की टीका में यह पाठ नहीं मिला।'

संशोधन—पृष्ठ १०४, पं० ४ 'ने ५।१ की' के स्थान 'ने कं० ५ सू० १ की' पढ़ें।' इसी पृष्ठ पर **पं०** ९ में 'इति' से आगे बढ़ावें—'भाग १, पृष्ठ १०१, १०२।'

परिवर्धन—पृष्ठ १०६, पं० २०-२१ 'अमोघावृत्ति···काशकृत्स्नीयम्' पर टिप्पणी—'मुद्रित अमोघावृत्ति में यह पाठ उपलब्ध नहीं होता। यह भी सम्भव है कि यहां दी गई सूत्र संख्या ३।२।१६१ से अन्यत्र किसी सूत्र पर यह पाठ हो। अमोघावृत्ति इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण छपने के पश्चात् मुद्रित हुआ है। हमने उक्त उदाहरण कहां से लिया था, यह इस समय स्मरण नहीं है।

संशोधन—पृष्ठ १०८, पं० १३ 'पूर्वनिर्दिष्ट' के स्थान में पूर्व पृष्ठ १०६ पर निर्दिष्ट' पढ़ें। यहां पृष्ठ **१०६** पं० २०—२१ पर परिवर्धित टिप्पणी भी देखें। अमोघावृत्ति २।४।१८२ में '**त्रिकाः काशकृत्स्नाः**' उदाहरण मिलता है।

संशोधन—पृष्ठ ११६, पं० २०-२१ 'काशिका···काशकृत्स्नीयम्'

के स्थान में 'काशिकावृत्ति ५।१।५८ में उद्धृत **त्रिकं काशकृत्स्नम्** और अमोघावृत्ति २।४।१८२ में उध्धृत **त्रिकाः काशकृत्स्नाः**' ऐसा पढ़ें ।

संशोधन—पृष्ठ ११६, पं० २५ 'शाकटायन ३।२।१६१' के स्थान में 'शाकटायन २।४।१८२' पढ़ें ।

परिवर्धन—पृष्ठ १२२, पं० ५ से आगे बढ़ावें—'३. **परिभाषा पाठ**—इसके विषय में इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में पृष्ठ २८२ द्वि०सं० पर देखें।' इससे आगे ३,४,५ संख्या को ४,५,६ इस प्रकार शोध लें।'

संशोधन—पृष्ठ १२५, पं०१३ 'गणपाठ के' स्थान में 'गणपाठ २।४।२२ के' पढ़ें ।

परिवर्धन—पृ० १२५, पं० २६-२७ 'टिप्पणी नं० ३ इस प्रकार पढ़ें—'३. जैनशाकटायन लघुवृत्ति, परिशिष्ट पृष्ठ ८२ तथा अमोघावृत्ति २।४।८२ के गणपाठ में ।'

परिवर्धन—पृष्ठ १३१ पं० १५ के आगे नई पङ्क्ति बढ़ावें—'**वंशविस्तार**—अमोघावृत्ति १।२।१६० में उदाहरण है—**त्रिपञ्चाशद् गौतमम्** । इससे विदित होता है कि गौतम कुल ५३ अवान्तर विभागों में विभक्त हो गया था । इसी के अनुसार पृष्ठ ६० पं० २१-२२ पर भी विचार करना चाहिए । इसी पृष्ठ की पं० ३१ में **एकविंशति भारद्वाजम्**' इस प्रकार शोधें ।'

संशोधन—पृष्ठ १३१, पं० १६ '(२६५० वि० पू०)' के स्थान में '(२६०० वि० पूर्व)' पढ़ें ।

परिवर्धन—पृष्ठ १४६, पं० २३ से आगे नया सन्दर्भ बढ़ाएं—

हम इसी प्रकरण में आगे (पृष्ठ १४८) लिखेंगे कि न्यायवार्तिककार उद्योतकर कणादसूत्रों को **काश्यपीय सूत्र** के नाम से उद्धृत करता है । महामुनि कणाद के वैशेषिक शास्त्र का सम्बन्ध महेश्वर-सम्प्रदाय के साथ है, यह प्रशस्तपाद भाष्य के अन्त्यश्लोक से विदित होता है । यदि कणाद और व्याकरणप्रवक्ता काश्यप का एकत्व प्रमाणान्तर से सम्पुष्ट हो जाये, तो यह मानना होगा कि काश्यप व्याकरण का सम्बन्ध भी माहेश्वर सम्प्रदाय से था ।'

टिप्पणी—ऊपर परिवर्धित पाठ में 'प्रशस्तपाद भाष्य के अन्त्य श्लोक' पर—

योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ।।

संशोधन—पृष्ठ १६८, पं० २० '२–शाकल्य' के स्थान में '८–शाकल्य' पढ़ें ।

परिवर्धन—पृष्ठ १८६, पं० ६ के आगे नया सन्दर्भ—

डा० वर्मा का मिथ्या लेख–डा० सत्यकाम वर्मा ने अपने संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास ग्रन्थ के पृष्ठ १२६-१२८ पर कौत्स के सम्बन्ध में लिखते हुए मेरे नाम से मिथ्या अभिप्राय उद्धृत करके आलोचना की है । वे लिखते हैं—'मीमांसक एक नये परिणाम पर जा पहुंचे हैं । वे लिखते हैं—यास्क निरुक्त (१।१५) में कौत्स का उल्लेख करता है । महाभाष्य (३।२।१०८)के अनुसार कौत्स पाणिनि का शिष्य था—उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम् ।' पुनः पृष्ठ १२७ पर लिखते हैं—'अतः मीमांसक की रीति से यास्क प्रोक्त कौत्स को पाणिनि का शिष्य सिद्ध करने से कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि न होगी । यदि कौत्स नाम अनेक का हो सकता है, तब पाणिनीय कौत्स अन्यों से पृथक् ही क्यों न माना जाए ?'

पाठक हमारे पूर्व सन्दर्भ को ध्यान से पढ़ें । हमने कहीं पर भी यास्कोद्धृत कौत्स को पाणिनि-शिष्य कौत्स नहीं लिखा । हम तो निरुक्त गोभिल गृह्यसूत्र आदि ग्रन्थों में उद्धृत कौत्सों को पाणिनि-शिष्य कौत्स से मुक्तकण्ठ से पृथक् मान रहे हैं । हमने स्पष्ट लिखा है—'रघुवंश के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों में कौत्स उद्धृत है, वे सब पाणिनि से पूर्वभावी हैं' इतना स्पष्ट निर्देश करने पर भी श्री डा० वर्मा ने यह कैसे लिख दिया कि 'मीमांसक दोनों को एक मानता है?' प्रतीत होता है—डा० वर्मा को मेरा खण्डन करना मात्र अभीष्ट था, चाहे यथार्थ उद्धरण वा मत देकर करें, चाहे मिथ्या रूप से लिखें । डा० वर्मा ने अपने ग्रन्थ में बहुत्र मेरे नाम से मेरे मिथ्या मत वा उद्धरण देकर खण्डन करके अपना पाण्डित्य प्रदर्शन किया है ।

संशोधन—पृष्ठ २११, पं० २४ 'भर्तृहरि से लेकर भट्टोजिदीक्षित पर्यन्त' के स्थान में 'भट्टोजिदीक्षित प्रभृति' पढ़ें । इस पृष्ठ की

५ वीं टिप्पणी का 'तत्कथं··· महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ १७५।' इतना अश निकाल दें। यह लेख हमारे हस्तलेख के अशुद्ध पाठ पर आश्रित था। महाभाष्यदीपिका के जो दो संस्करण छपे हैं, उनमें उक्तपाठ इस प्रकार है—तत् कथमिव समुदाये कार्यभाजिनि ··। इस भूल का निर्देश हमने आगे पृष्ठ ३८६ की सं० २ की टिप्पणी में कर दिया है।

संशोधन—पृष्ठ २३६, पं २७-२८ 'पृष्ठ १७२-१७७' के स्थान में 'पृष्ठ १९६-२०१ द्वि०सं०' पढ़ें।

परिवर्धन—पृष्ठ२३७, पं० २१ 'किया है।' के आगे बढ़ावें—पाणिनीय सूत्रात्मक शिक्षा के दोनों पाठों का प्रकाशन इस ग्रन्थ के तृतीय भाग में परिशिष्ट ५ में किया है।

परिवर्धन—पृष्ठ २३९, पं० २० 'अवश्य देखें' के आगे बढ़ावें—'जाम्बवती-विजय के अद्य यावत् उपलब्ध वचनों का संग्रह हमने इसी ग्रन्थ के तृतीय भाग के छठे परिशिष्ट में किया है।'

संशोधन—पृष्ठ २७५, पं० २ '(२८०० वि० पू०)' के स्थान में '(२९०० वि० पू०)' पढ़ें।

परिवर्धन—पृष्ठ २८५, पं०२६ 'पृष्ठ ३४६ पर किया है' के आगे बढ़ावें—'उन उद्धरणों को भी इस संस्करण में आगे यथास्थान जोड़ दिया है।'

संशोधन—पृष्ठ ३१७, पं० १२ 'वाडवम' के स्थान में 'वाडव' पढ़ें।

परिवर्धन—पृष्ठ ४०८, पं० १३ (टि० ३ के अन्त में) 'लिपिकर प्रमादजन्य पाठ हो' के आगे बढ़ावें—'कौण्डमभट्ट वैयाकरणभूषण के आरम्भ में रामेश्वर को सर्वेश्वर के नाम से स्मरण करता है।'

संशोधन – पृष्ठ ४०८, पं० १५ '५. विट्ठल ने अपने समसामयिक' के स्थान में '५. विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी के अन्त के १४ वें श्लोक में स्मृत अपने समसामयिक' पढ़ें।

संशोधन—पृष्ठ ४४९, पं० १५ 'प्रकरण में' के स्थान में 'प्रकरण (पृष्ठ ४२) में' पढ़ें।

संशोधन—पृष्ठ ४६४, पं० २२ '१६५०' के स्थान में '१६७५' पढ़ें।

संशोधन—पृष्ठ ५१०, पं० ४ 'अतः मल्लिनाथ का काल विक्रम को १४ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है, इतना सामान्यतया कहा जा सकता है।' से आगे बढ़ावें—मल्लिनाथ कृत न्यासोद्योतन का उल्लेख अमरसूरि विरचित बृहद्वृत्त्यवचूर्णि ग्रन्थ के पृष्ठ १५४ पर मिलता है। इसका लेखनकाल श्रावणसुदि ३ वि० १२६४ है। अतः अब यह निश्चित हो गया है कि मल्लिनाथ का काल १२६४ से पूर्व है। द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ ४४६ (द्वि०सं०)।

संशोधन-परिवर्धन—पृष्ठ ५४३, पं० २४ 'अपाणिनीय-प्रामाणिकता' के स्थान में 'अपाणिनीय-प्रमाणता' पढ़ें। आगे पं० २५ 'हो चुका है' के आगे बढ़ावें—'इस दुर्लभ ग्रन्थ को हमने संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास के तृतीय भाग में परिशिष्ट १ में प्रकाशित किया है।'

संशोधन-परिवर्धन—पृष्ठ ५४५, पं० १०-१८ यहां हमने जिन १६ वैयाकरणों के नामों का निर्देश किया है। उसमें निम्न प्रकार संशोधन वा परिवर्धन करें—

१—कातन्त्रकार।
२—चन्द्रगोमी।
३ क्षपणक।
४ देवनन्दी।
५—वामन।
६—भट्ट अकलङ्क।
७—पाल्यकीर्ति।
८—शिवस्वामी
९—भोजदेव।
१०—बुद्धिसागर सूरि।
११—भद्रेश्वरसूरि।
१२—वर्धमान।
१३—हेमचन्द्र सूरि।
१४- मलयगिरि।
१५—क्रमदीश्वर।
१६—सारस्वतव्याकरणकार
१७—वोपदेव।
१८—पद्मनाभ।

परिवर्धनः—पृष्ठ ५६७, पं० ११ के आगे बढ़ावें—

९—गोल्हण (वि० सं० १४३६ से पूर्व)

गोल्हण ने दुर्गसिंह विरचित कातन्त्र टीका पर 'टिप्पण' लिखा है। इसका 'चतुष्कटिप्पणिका' नाम से एक हस्तलेख लखनऊ नगरस्थ

अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् के संग्रह में विद्यमान है। इसकी संख्या वर्गीकरण संख्या १०५ व्याकरण, प्राप्ति नं० ६२ है। इसमें केवल २२ पत्रे हैं। प्रायः प्रत्येक दो पत्रों पर क्रमसंख्या समान है। अर्थात् एक-एक संख्या दो-दो पत्रों पर पड़ी हुई है। द्विरावृत संख्या-वाले पत्रों में एक पत्रा स्थूल लेखनी से लिखा हुआ है, दूसरा सूक्ष्म (पतली) लेखनी से। संख्या की द्विरावृत्ति तथा लेखनाभेद का निश्चित कारण समयाभाव से हम निश्चित नहीं कर सके। सम्भव है स्थूल लेखनी से लिखा पाठ दुर्ग टीका का हो और सूक्ष्म लेखनी-वाला गोल्हण की टीका का (अभी निश्चेतव्य है)।

टिप्पणकार के देश काल का परिचय टीका के आद्यन्त भाग से विदित नहीं होता। जो हस्तलेख उपलब्ध है, वह वि० सं० १४३६ का है। अतः टिप्पणकार निश्चय ही इससे पूर्वभावी है।

ग्रन्थ के अन्त में निम्न पाठ मिलता है—

'इति पण्डितश्रीगोल्हणविरचितायां चतुष्कवृत्तिटिप्पनिकायां प्रकरणं समाप्तमिति। शुभं भवतु॥ संवत् १४३६ वर्षे माघशुदि शसामेस (?) लक्ष्मणपुरे आगमिकामरतिलकेन चतुष्कवृत्तिटिप्प-निका आत्मपठनार्थं लिखिता।'

इस टिप्पण के अन्त में प्रत्याहारबोधक सूत्र तथा प्रत्याहार सूत्र उद्धृत हैं। ये किस व्याकरण के हैं, और यहां इनकी क्या आव-श्यकता है, यह विचारणीय है। पाठ इस प्रकार है—

आदिरन्त्येन सहेता। आदिवर्णेन अन्तेन इता अनुबन्धेन सहितं मध्यपातिनां वर्णानां ग्राहको भवति। तपरस्तत्कालस्य अणुदितः सवर्णस्य वा प्रत्ययः। अ इ उ ण्। ऋ लृ क्। ए ओ ण्। ऐ औ ङ्। हयवरट्। लण्। ङ ञ ण न म्। फनञ्। घढधष्। जगपड-दश्। ख फ ब ढ थ च ट त व्। कपय्। शषसर। हल्। इति प्रक्केडमात्रन सम्यक्।

संशोधन—पृष्ठ ५६७, पं० २७ 'पृष्ठ १८०, १८१ द्वि० सं०' के स्थान में 'पृष्ठ २०५ (द्वि०सं०)' पढ़ें।

परिवर्धन पृष्ठ ५६८, पं० २५ 'भाग ६, पृष्ठ २।' के आगे बढ़ावें—

बालबोधिनी का हस्तलेख

१० जुलाई १९७३ को मेरा 'उज्जैन' (म० प्र०) जाना हुआ। वहां श्री पं० उपेन्द्रशरण जी शास्त्री (आचार्य, संस्कृत महाविद्यालय महाकाल मन्दिर, उज्जैन) से अकस्मात् भेंट हुई। वे 'जगद्धर भट्ट' पर शोध कर रहे हैं। उन्होंने जगद्धरकृत 'बालबोधिनी टीका' को प्रतिलिपि दिखाई। टीका वस्तुत: **यथा नाम तथा गुण:** के अनुरूप है। इसका मूल हस्तलेख 'कीर्ति मन्दिर, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन' के संग्रह में विद्यमान है।

जगद्धर का अन्य ग्रन्थ—श्री उपेन्द्रशरण जी शास्त्री ने ही हमें जगद्धर कृत एक अन्य ग्रन्थ की भी सूचना दी। ग्रन्थ का नाम है—**अपशब्द निराकरण** इसका एक हस्तलेख भण्डारकर शोधसंस्थान पूना में है। इसके ५ पत्र हैं, प्रति पृष्ठ २५ पंक्तियां हैं। इसका निर्देश सूचीपत्र में २७१ (बी) १८७५-१८७६ ग्रन्थ नं० ४२४ पर है। इस हस्तलेख के साथ **चित्रकाव्य** ग्रन्थ भी है।

संशोधन—पृष्ठ ,६९ पं० २८-२९ 'पृष्ठ ३९३ द्वि० सं०' के स्थान में पृष्ठ **५१** (द्वि०सं०)' पढ़ें।

संशोधन—पृष्ठ ६१३, पं० २४ '१०।' यहां '१००।' शोधन करें।

संशोधन—पृष्ठ ६३५, पं० १४ 'पृष्ठ २०० पर' के स्थान में 'पृष्ठ २५० द्वि०सं० पर' पढ़ें।

संशोधन पृष्ठ ६३८, पं० २८ 'पृष्ठ २२**१**' के स्थान में 'पृष्ठ ३१०,३११ द्वि०सं०' पढ़ें।

[द्वितीय भाग में]

परिवर्धन—पृष्ठ १०२, पं० २७ से आगे बढ़ावें—

१३. हेलाराज (वि० १४ वीं शती से पूर्व)

हेलाराज ने किसी धातुवृत्ति की रचना की थी, यह सायण के निम्न वचन से ज्ञात होता है—

अत्र स्वामी संहितायां धातुपाठाद् 'वा' शब्दमुत्तरधातुशेषं वष्टि। तन्निपातस्य वा शब्दस्य च शब्दादिवत् पूर्वप्रयोगो नेति हेलाराजीयादौ समर्थितम्। धातुवृत्ति पृष्ठ ३९७, 'पत गतौ वा' धातु पर।

हेलाराज कृत लिङ्गानुशासन का आगे पच्चीसवें अध्याय में निर्णय करेंगे।

संशोधन—पृष्ठ १०२, पं० २७ यहां से आगे प्रत्येक संख्या में १ की वृद्धि करें। यथा '१३. सायण' के स्थान में '१४. सायण' पढ़ें। इसी प्रकार आगे भी एक-एक संख्या बढ़ावें।

संशोधन—पृष्ठ १४१, पं० ३ '४—पाणिनि' के स्थान में '५—पाणिनि' शोधें। इसी प्रकार आगे भी—

पृष्ठ १६१ पर '५—कातन्त्रकार' के स्थान में '६—कातन्त्रकार' शोधें।

पृष्ठ १६२ पर '६—चन्द्रगोमी' के स्थान में '८- चन्द्रगोमी' शोधें।

पृष्ठ १६७ पर '७—क्षपणक' के स्थान में '८—क्षपणक' शोधें। इसी प्रकार पृष्ठ १६८, १६९, १७०, १७४, १७६, १७७, १७९, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७ पर सर्वत्र नाम से पूर्व क्रमाङ्क में एक-एक संख्या की वृद्धि करें।

परिवर्धन—पृष्ठ २११, पं० १७ से आगे निम्न पाठ बढ़ावें—

५. विष्णु शेष [शेष विष्णु] (सं० १५००-१५५० वि०)

विष्णु शेष (शेष विष्णु) ने पाणिनीय सम्प्रदाय से सम्बद्ध परिभाषा पाठ पर 'परिभाषाप्रकाश' नाम से एक वृत्ति लिखी है। परिभाषा-प्रकाश के आरम्भ में विष्णु शेष ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

शेषावतंसं शेषांशं जगत्त्रयपूजितम्।
चक्रपाणिं तथा नत्वा पितरं कृष्णपण्डितम् ॥२॥
भ्रातरं च जगन्नाथं विष्णुशेषेण धीमता।
परिभाषाप्रकाशोऽयं क्रियते धीमतां मुदे ॥३॥

अन्त में—**इति श्रीमच्छेषकृष्णपण्डितात्मजविष्णुपण्डितविरचिते परिभाषाप्रकाशे प्रथमः पादः।**

शेष वंश का चित्र हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के पृष्ठ ४०७ (तृ० सं०) पर दिया है। उस समय हमें इस शेषवंशावतंस विष्णुपण्डित का परिचय नहीं था। अतः उसमें इसका उल्लेख नहीं किया।

है। शेष विष्णु ने अपना जो परिचय दिया है, तदनुसार यह नृसिंह सूनु प्रक्रियाकौमुदी-प्रकाश के कर्त्ता कृष्ण पण्डित का पुत्र है। विष्णु ने अपने भ्राता जगन्नाथ का उल्लेख किया है। विट्ठल ने भी प्रक्रिया-कौमुदी के अन्त के १४वें श्लोक में किसी जगन्नाथाश्रम को स्मरण किया है, यह सम्भवतः शेषविष्णु का भ्राता जगन्नाथ होगा। विट्ठल के समय संन्यस्त हो जाने से जगन्नाथाश्रम के नाम से स्मरण किया गया गया है।

शेषविष्णु को प्रक्रिया-कौमुदी के व्याख्याता शेषकृष्ण का पुत्र मानने में एक कठिनाई यह प्रतीत होती है कि उसने केवल जगन्नाथ को ही क्यों स्मरण किया? शेष कृष्ण के अन्य दो प्रसिद्ध पुत्र रामेश्वर और नागनाथ या नागोजी का उल्लेख क्यों नहीं किया? क्या यह सम्भव हो सकता है कि विष्णु कृष्ण का सबसे कनिष्ठ पुत्र हो, और जब उसने प्रकृतग्रन्थ लिखा उस समय दोनों का स्वर्गवास हो गया हो। विष्णु द्वारा स्मृत चक्रपाणि प्रौढमनोरमा का खण्डनकार ही है। चक्रपाणि के साथ विष्णु वे अपना कोई सम्बन्ध नहीं दर्शाया। क्या चक्रपाणि उसका गुरु हो सकता है? अथवा उसने अपने ज्येष्ठ भ्राता जगन्नाथ से विद्याध्ययन किया हो। और इसी कारण उसने एक भाई के ही नाम का उल्लेख किया हो।

इस सब मीमांसा को ध्यान में रखकर शेष विष्णु का काल वि० सं० १५००–१५५० के मध्य होना चाहिये।

संशोधन—पृष्ठ २९१, पं० १८ '५. परिभाषा-विवरणकार' के स्थान में '६. परिभाषा विवरणकार' इस प्रकार शोधें।

इसी प्रकार आगे भी पृ० ३०१ तक क्रमाङ्क ६ से २१ तक एक-एक संख्या की वृद्धि करें।

संशोधन—पृष्ठ ३०१, पं० २१ '४ - कातन्त्रीय परिभाषा-प्रवक्ता' के स्थान में '५—कातन्त्रीय परिभाषा-प्रवक्ता' पढ़ें।

इसी प्रकार पृष्ठ ३०४, ३०५, ३०६, ३०७ तक क्रमाङ्क ५ से १० तक एक-एक संख्या बढ़ावें।

आठवां परिशिष्ट

महाभाष्य-दीपिका के हस्तलेख और पूना संस्करण की तुलनात्मक पृष्ठ-संख्या

हमने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' में भर्तृहरि विरचित 'महाभाष्यदीपिका' के जहां-कही उद्धरण देते हुए पृष्ठ-संख्या दी है, वह हमारे हस्तलेखानुसार है। जर्मन देश में सुरक्षित मूल प्रति की जहां-कहीं फोटो कापियां हैं, उनमें वही पृष्ठ-संख्या है, जो हमारे हस्तलेख की है। हमने पञ्जाब विश्वविद्यालय लाहौर की प्रति से प्रतिलिपि की थी। प्रतिलिपि करते समय यह ध्यान रखा था कि प्रत्येक पृष्ठ की प्रतिलिपि भी प्रतिपृष्ठ पृथक्-पृथक् रहे। जिससे कभी मूल फोटो कापी से पाठ देखना हो, तो हमें सुगमता रहे। प्राचीन हस्तलेखों के अनुसार मूल हस्तलेख के पत्रों (दो पृष्ठों) में एक ओर (दूसरे पृष्ठ पर) ही पत्रा संख्या दी गई है। अतः फोटो कापी करते समय सावधानता रखने पर भी दो चार स्थानों में संख्यारहित पृष्ठ भूल से आगे-पीछे रखे गये, और सम्पूर्ण ग्रन्थ पर क्रमशः प्रति पृष्ठ सख्या दे दी गई। ऐसे स्थानों में हमारे हस्तलेख की तथा पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर की फोटो-कापी के पृष्ठों में अन्तर है। शेष पृष्ठ-संख्या समान है।

हमारे ग्रन्थ का प्रस्तुत तृतीय संस्करण छपने से पूर्व महाभाष्य दीपिका के दो संस्करण श्री वी० स्वामिनाथन् तथा श्री पं० काशी नाथ अभ्यङ्कर सम्पादित प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें स्वामिनाथन् का सस्करण चतुर्थाह्निक पर्यन्त ही है। अभ्यङ्कर का संस्करण यावत् हस्तलेख उपलब्ध है, उसका पूरा है।

हमने इस ग्रन्थ में दीपिका के पाठ उद्धृत करते हुए जहां-कहीं भी अपने हस्तलेख की पृष्ठसंख्या दी है, वह उद्धरण अभ्यङ्कर सम्पादित पूना संस्करण में कहां उपलब्ध होता है इसकी तुलनात्मक पृष्ठसूची नीचे दी जा रही है—

पृष्ठ १४४, टि० ४—इह त्यदादीन्यापिशलै ···[1]पृष्ठ २२१, पं० १६।

पृष्ठ २११, टि० ५—तत्कथं[1] शिवसमुदाये ······ पृष्ठ १३५, पं० १७।

पृष्ठ २३६, टि० १—[2]नहि उपदिशन्ति खिलपाठे ···पृष्ठ ११५, पं० ६।

पृष्ठ २६४, टि० ७—भाष्यसूत्रे गुरु····· पृष्ठ ३६, पं० १८। न च तेषु भाष्यसूत्रेषु ·· ··· पृष्ठ २१३, पं० ७।

पृष्ठ २६५, टि० ५—एषा भाष्यकारस्य · पृष्ठ १२३, पं० २३। यदेवोक्तं वाक्यकारेण ·····पृष्ठ ६२, पं० ६।

पृष्ठ ३२३, पं० ७—'पृष्ठ २६६ में इन्द्रभवस्त्वाहुः' पाठ मुद्रित ग्रन्थ में पृष्ठ २०४, पं० २४ में देखें।

पृष्ठ ३२३, टि० १—हस्तलेख पृष्ठ ६१, १०७, १२५, २७२ के पाठ मुद्रितग्रन्थ में क्रमशः पृष्ठ ५१, पं० २२; पृष्ठ ८६ पं० २; पृष्ठ ६७, पं० ७; पृष्ठ २०७, पं० ३ पर देखें।

पृष्ठ ३५६, टि० १ में निर्दिष्ट अन्ये अपरे केचित् पद मुद्रितग्रन्थ में कहां आये हैं, यह इस परिशिष्ट के अन्त में देखें।

पृष्ठ ३६६, टि० ३- हस्तलेख ३८ का उपर्युक्त पाठ मुद्रितग्रन्थ में पृष्ठ ३१, पं० २ पर देखें।

पृष्ठ ३७६, टि० १—इति महामहोपाध्यायभर्तृहरि ·· · पृष्ठ ६२, पं० २३।

पृष्ठ ३८४ से पृष्ठ ३८६ तक उद्धृत ४७ पाठों के हस्तलेख तथा मुद्रितग्रन्थ की पृष्ठ पंक्ति संख्या नीचे दी जा रही है--

	ह० पृष्ठ	मु० पृष्ठ	पं०
(१) यथा तैत्तिरीयाः कृतणत्वमग्नि·· ··	१	१	७
(२) एवं ह्युक्तम्—स्फोटः शब्दो ··· ·	५	४	२२
(३) अस्ति हि स्मृतिः—एकः शब्दः ···	१६	१२	१५

---

१. यह पृष्ठ पङ्क्ति संख्या पूना मुद्रित ग्रन्थ की है। आगे भी सर्वत्र ऐसा ही समझें। २. यहां उद्धृत पाठ मुद्रित ग्रन्थ में कुछ भेद से है।

(४) इळो अग्निना नेति········—	१७	१३	५
(५) आश्वलायनसूत्रे—ये यजामहे ··	१७	१३	५
(६) आपस्तम्बसूत्रे—अग्नाग्ने ·······	१७	१३	८
(७) शब्दपारायणमिति रूढिशब्दोऽयं···	२१	१७	१
(८) संग्रह एतत् प्राधान्येन··· ·····	२६	२१	४
(९) सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी ··	२९	२२	२२
(१०) एवं संग्रह एतत् प्रस्तुतम्···	३०	२३	१५
(११) इहापि तदेव, कुतः ? संग्रहोऽपि···	३०	२३	१८
(१२) अन्ये वर्णयन्ति—यदुक्तं···	३६	२९	१०
(१३) धर्मप्रयोजनो वेति ··	३८	३१	२
(१४) निरुक्ते त्वेवं पठ्यते—विकार···	४२	३४	२२
(१५) तत्रैवोक्तम्—दीप्ताग्नयः···	४४	३६	१९
(१६) भाष्यसूत्रे गुरुलाघव···	४८	३९	१८
(१७) एवं हि तत्रोक्तम् स्फोटस्तावानेव···	५८	४८	२४
(१८) केषांचित् वर्णोऽक्षरम् ··	११५	९१	१५
(१९) एवं ह्यन्ये पठन्ति वर्णा···	११६	९२	१
(२०) यदेवोक्तं वाक्यकारेण···	११६	९२	९
(२१) इति महामहोपाध्यायभर्तृहरि ··	११७	९२	२३
(२२) नान्तः[पादमिति]पाठमाश्रित्य···	१४२	११०	२
(२३) अयमेवार्थो वृत्तिकारैः ··	१४५, १४६	११२	१३
(२४) प्रजापतिर्वै यत्किंचन···	१६५	१२६	१३
(२५) यदप्युच्यत इति अयं ग्रन्थो ··	१७५	१३५	१४
(२६) तत्कथं शिवसमुदाये	१७५	१३५	१७
(२७) अस्मिंस्तु दर्शने पाणिनिना ··	१७९	१३९	१७
(२८) संवारविवाराविति –	१८४	१४४	६
(२९) अस्यां शिक्षायां भिन्नस्थानत्वात्···	१८४	१४४	१५
(३०) आचार्येणापि सर्वनामशब्दः···	२६८	२०३	२१
(३१) इहान्ये वैयाकरणाः·· ······	२७०	२०५	१२
(३२) तत्रैतस्मिन्नग्रे भाष्यकारस्य ··	२८१	२१३	७
(३३) न च तेषु भाष्यसूत्रेषु	२८२	२१३	१५
(३४) इह त्यदादीन्यापिशलैः···	२८७	२१६	२१
(३५) विग्रहभेदं प्रतिपन्ना वृत्तिकाराः···	२८५	२२१	१९

(३६)	अस्मिन् विग्रहे क्रियमाणे	३०६	२२८	२१
(३७)	अत एषां व्यावृत्त्यर्थं कुणिनापि···	३०९	२३०	१५
(३८)	नैव सौनागदर्शन··	३१०	२३१	१२
(३९)	तस्मादनर्थकमन्तःग्रहणम्	३१४	२३३	१६
(४०)	मा नंः समस्य···	३२३	२४०	१४
(४१)	अन्येषां पुनर्लक्षणे···	३२३	२४०	१६
(४२)	सर्वव्याख्यानकारै ··	३२८	२४३	६
(४३)	कथं तदुक्तं भारद्वाजा ··	३५९	२६१	१०
(४४)	उभयथा आचार्येण शिष्याः···	३७२	२७०	२३,२४
(४५)	श्रुतेरर्थाच्च पाठाच्च ···	३७७	२७४	१
(४६)	इहास्तेः केचित् सकारमात्र···	३८०	२७५	२३
(४७)	तत्रेदं दर्शनम्—पदप्रकृतिः ··	४११	२९६	१

पृष्ठ ३८९ पर निर्दिष्ट—

केचित्[1]—३,२३।५१,१६।१२७,१३।१३६,१०।१३९,११।१४८,१०।१५९,१।१५९,१६।१६३,१०।२१२,१९।२३९,४।२४६,१०।२७२,४।२८८,१९।२९२,५।२९३,१६।३०५,२॥

केषाञ्चित्—३१.१८।१३८,९।

अन्ये ३,२६। ४८,६। ६०,७। ११८,१४।१२२,१०। १२९,१४। १३५,२२। १३९,१०। १४३,१२। १४५,१०। २१२,३। २१२,२०। २३०,६। २४९,१९। २७२,४। २७७,७। २८२,२०। २८७,५। २८९,१। ३०५,२ ॥

अन्येषाम्—१३,२०। ३१,१९[2]। ३७,२५। १२५,१६॥

अपरे—६०,८। ६४,७। १२५,१०। १३६,१०। १३८,१६। १४८,११। १५४,१६। १५९,७। २४३,२२। २६५,२१। २६७,१३। २८९,१८। २९२.१५·१६।[3] ३०५,९॥[3]

---

१. केचित् आदि पदों के आगे केवल पूना मुद्रित ग्रन्थ की पृष्ठ पङ्क्ति की संख्या दी है। हस्तलेख की पृष्ठसंख्या मूल ग्रन्थ भाग १, पृष्ठ ३८९, ३९० पर दी गई है।

२. यहां मूल ग्रन्थ में 'अन्ये' पाठ है।

३. मूलपाठ 'एवं तु' है।

पृष्ठ ३६० पर निर्दिष्ट—

महाभाष्य के पाठान्तर—११,१२। १४,२४। ८१,११। ८३,२२। १२५,१६। १२८,२१। १४०,२३। २६८,१६। ३०१,२३। ३०६,८॥

वाक्यकार—५३,६। ६२,६। १२३,२३। २१३, १-२। ७४,१५। २८८,७॥

चूर्णिकार—१३६,१७। १५५,१६। १८०,११॥

इह भवन्तस्त्वाहुः—५१,२२। ८६,२। ६८,७।[1] २०४,२४। २०७,३॥

पृष्ठ ४३७, पं० २०—'उभयथा ह्याचार्येण......' पाठ हस्तलेख में पृष्ठ ३७२ पर, तथा मुद्रितग्रन्थ में पृष्ठ २७०, पं० २३-२४ पर है।

पृष्ठ ४४०, पं० २—'अत एषां व्यावृत्त्यर्थं .....' पाठ मुद्रित-ग्रन्थ में पृष्ठ २३०, पं० १५ पर है।

---

१. यहां मुद्रित ग्रन्थ में 'इह भवतु.. ' संशोधन अयुक्त प्रतीत होता है।

नौवां परिशिष्ट

सं० व्याकरण-शास्त्र का इतिहास तीनों भागों में उद्धृत

व्यक्ति-देश-नगर आदि नामों की सूची

[भाग १]

---

१. मूल ग्रन्थ में इसका निर्देश 'इण्डिया आफिस लायब्रेरी लन्दन' तथा 'इण्डिया आफिस पुस्तकालय लन्दन' नामों से भी हुआ है। ऊपर सभी नामों की पृष्ठ संख्या दी है।

---

१. द्रष्टव्य मरुत्त चक्रवर्ती।

२. द्रष्टव्य चन्द्रगोमी और चन्द्राचार्य पद।

३. द्रष्टव्य चन्द्र और चन्द्राचार्य पद।

४. द्रष्टव्य चन्द्र और चन्द्रगोमी पद।

[1] द्र०—भट्ट जयन्त शब्द।

---

१. द्र०—नारायण भट्ट (दण्डनाथ) शब्द ।

२. द्र० - राम (दाशरथि) शब्द ।

३. द्र०—पुरुषोत्तमदेव शब्द ।

१. द्र०—नागोजी (भट्ट) शब्द।

२. द्र०—नागेश (भट्ट) शब्द।

1. द्र०— दण्डनाथ नारायण शब्द ।

1. द्र०—भण्डारकर प्राच्य विद्या-तिष्ठान शब्द।
2. द्र०—भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीटयूट (पूना) शब्द।

१. द्र० – चक्रवर्ती मरुत्त शब्द ।

१. द्र०—दाशरथि राम शब्द।

१. द्र०—कात्यायन शब्द ।

२. वर्धमान सूरि के साथ भेद विवेचनीय ।

१. द्र०—वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी शब्द ।

२. द्र०--विक्रमार्क शब्द ।

---

१. द्र० - शौरवीर माण्डूकेय शब्द ।

२. द्र०—अनन्त शब्द ।

३. द्र०—कृष्ण शब्द ।

४. द्र०—नारायण शब्द ।

५. द्र०—शूरवीर सुत शब्द ।

१. यहां 'सोमेश्वर सूरि' के स्थान में 'सोमदेव सूरि' पढ़ें।

२. यहां सोमदेव सूरि नाम शोधें।

१. अर्थात् हेमचन्द्र सूरि। हेमचन्द्र सूरि शब्द देखें।

[भाग २]

---

1. द्र०—उपाध्याय अजातशत्रु शब्द ।

२. द्र०--लीलाशुकमुनि शब्द ।

१. द्र० पद्म (संन्यासी) नाम ।

१. द्र०—नीलकण्ठ (निरुक्तश्लोकवार्तिककार) नाम ।

१. द्र०—वाजसनेय याज्ञवल्क्य ।

१. द्र०—कृष्णलीला (देव) शुकमुनि शब्द ।

[भाग ३]

❦

दसवां परिशिष्ट

सं० व्याकरण-शास्त्र का इतिहास तीनों भागों में उद्धृत

ग्रन्थ नामों की सूची

[भाग १]

१. शुद्ध नाम 'अपाणिनीयप्रमाणता' है ।

२. द्र०—अमरटीका सर्वस्व शब्द ।

१. द्र० — दैव वार्तिक पुरुषकार तथा पुरुषकार शब्द ।

१. द्र०—बुद्धिसागर व्याकरण शब्द ।

२. द्र०—प्रौढ मनोरमा खण्डन (चक्रपाणिदत्त) ।

१. द्रष्टव्य—मिताक्षरा शब्द ।
२. द्र०—दैव पुरुषकार तथा दैववार्तिक पुरुषकार शब्द ।

१. द्र०—प्रक्रियाप्रकाश तथा प्रक्रिया कौमुदीवृत्ति शब्द ।
२. द्र०—प्रक्रिया प्रकाश शब्द ।
३. द्र०—प्रक्रिया कौमुदीवृत्ति शब्द । ४. द्र०—प्रतिज्ञासूत्र शब्द ।
५. द्र०—प्रतिज्ञा परिशिष्ट (प्राति० परि०) शब्द ।
६. द्र०—महाभाष्य प्रदीप शब्द ।

१. व्याकरणदर्शनेर इतिहास पृष्ठ ४६६ में उद्धृत।
२. द्र०—परमतखण्डन नाम।

---

१. विशेष द्र० — सं. व्या. शा. इतिहास भाग ३, पृष्ठ १०३।
२. द्र० बालावबोध शब्द। ३. द्र० — बालबोधिनी शब्द।
४. द्र० — पञ्चग्रन्थी शब्द।

१. द्र०—मञ्जरी मकरन्द शब्द ।

१, द्र०—सरस्वती कण्ठाभरण शब्द ।
२. द्र०—भाषामञ्जरी शब्द ।

१. द्र०—प्रदीप शब्द । २. द्र०—महाभाष्य प्रदीपोद्योत शब्द।
३. द्र०—महाभाष्यप्रदीपविवरण (नागेश) शब्द ।
४. द्र०—पाणिनीय मिताक्षरा शब्द ।

१. द्र०—हैम व्याकरण शब्द।

१. द्र०—बृहती टीका, बृहती वृत्ति शब्द ।
२. द्र०—सिद्धहैमशब्दानुशासन शब्द ।

[भाग २]

[भाग ३]

१. द्र०—महाभाष्यप्रदीप शब्द ।

२. द्र०—भाष्यप्रदीप शब्द ।

अवशिष्ट नाम

[परिशिष्ट ६, भाग १ में]

ग्यारहवां परिशिष्ट

ग्रन्थ में पृष्ठ निर्देश पूर्वक निर्दिष्ट ग्रन्थों का विवरण

अमरटीका सर्वस्व—सम्पादक—गणपति शास्त्री। चार भागों में। त्रिवेन्द्रम का छपा।

अमरटीका (क्षीरस्वामी)—सम्पादक—कृष्ण जी गोविन्द ओके। पूना सन् १९१३।

अल्बेरूनी की भारतयात्रा—अनुवादक—सन्तराम बी. ए.। इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

इत्सिंग की भारत यात्रा—अनुवादक—सन्तराम बी. ए.। इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

उणादिवृत्ति (श्वेतवनवासी)—प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।

उणादिवृत्ति (कातन्त्र) प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।

उणादिवृत्ति (नारायण भट्ट)—प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय मद्रास।

उणादिवृत्ति (उज्ज्वलदत्त)—प्रकाशक—जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता।

उणादिवृत्ति (हेमचन्द्र)—सं०—जोह्न क्रिस्ते। एज्यूकेशन सोसाइटी प्रेस, बायकोला, सन् १८४५।

ऋक्तन्त्र—सम्पादक—डा० सूर्यकान्त। प्रकाशक—मेहरचन्द मुंशी राम, लाहौर।

ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—सम्पादक—पं० भगवद्दत्त। प्रकाशक—रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर। द्वितीय संस्करण, सन् १९५५।

कातन्त्र—दुर्गसिंह वृत्ति सहित, नागराक्षर मुद्रित, कलकत्ता संस्करण।

कातन्त्रवृत्ति—दुर्गसिंह, नागराक्षर प्रकाशन, कलकत्ता संस्करण।

काव्यमीमांसा (राजशेखर)—गायकवाड संस्कृत सीरिज, बड़ोदा। प्रथम संस्करण।
कविकल्पद्रुम—आशुबोध विद्याभूषण सम्पादित। सिद्धेश्वर प्रेस कलकत्ता, सन् १६०४।
काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्—संस्कृत अनुवाद—युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर।
काशिका—सं०—बालशास्त्री, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस। संस्करण २, सन् १८६८।
काशिका विवरण पञ्जिका (न्यास)—जिनेन्द्र बुद्धि। वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी राजशाही, बङ्गाल। दो भागों में।
क्रियारत्न समुच्चय—गुणरत्न सूरि। चन्द्रप्रभा यन्त्रालय, काशी।
क्षीरतरङ्गिणी—सम्पा०—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रकाशक—रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर।
गणरत्न महोदधि—सम्पा०—भीमसेन शर्मा। प्रकाशन स्थान—इटावा।
जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह—संग्रहीता—जुगलकिशोर, मुख्तार। वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली।
जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी। हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई। प्रथम संस्करण सन् १६४२; द्वितीय संस्करण सन् १६५६।
जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास—मोहनलाल दलीचन्द देसाई। बम्बई, सन् १६३३।
जैनेन्द्र महावृत्ति—(अभयनन्दी)—भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस।
ज्ञापक समुच्चय—वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगाल।
ज्योतिष शास्त्रा चा इतिहास—शंकर बालकृष्ण दीक्षित। द्वितीयावृत्ति सन् १६३१, पूना।
टेक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर—क्षितीशचन्द्र चटर्जी। कलकत्ता।
दी स्ट्रक्चर आफ अष्टाध्यायी—लेखक—आई० एस० पावटे। प्रकाशक—आई० एस० पावटे, हुबली। सन् १६३३।
दुर्घटवृत्ति—संपादक—गणपति शास्त्री। त्रिवेन्द्रम। प्रथम संस्करण, सन् १६२४।

दैवम्—पुरुषकार वृत्तिकोपेतम्—सं०—युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर।

धातुप्रदीप—मैत्रेयरक्षित। प्रकाशक—वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगाल।

धातुवृत्ति (सायण)—प्रकाशक—काशी संस्कृत सीरिज, नं० १०३। बनारस, सन् १९३४।

निघण्टुटीका (देवराज यज्वा) सम्पादक—सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, सन् १८८०।

निरुक्त दुर्गवृत्ति—आनन्दाश्रम, पूना।

निरुक्त (स्कन्द टीका)—सम्पा०—डा० लक्ष्मणस्वरूप। प्रकाशक—पञ्जाब विश्वविद्यालय, लाहौर।

निरुक्त समुच्चय—(वररुचि)—सम्पा०—युधिष्ठिर मीमांसक। भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर। द्वितीय संस्करण, सं० २०२२।

निरुक्तालोचन—सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता।

न्यायमञ्जरी (जयन्त भट्ट)—दो भागों में। प्रकाशक—मेडिकल हाल यन्त्रालय, बनारस।

न्यास (जिनेन्द्र बुद्धि) द्र०—काशिका विवरण पञ्जिका शब्द।

पदमञ्जरी (हरदत्त)—मेडिकल हाल प्रेस, बनारस। प्रथम भाग, सन् १८९५। द्वितीय भाग, सन् १८९८।

परिभाषाभास्कर (शेषाद्रि)—सम्पा०—कृष्णमाचार्य, श्री कृष्ण विलास यन्त्रालय, तञ्जा नगर। सन् १९१२।

परिभाषावृत्ति (सीरदेव)—व्रजभूषणदास कम्पनी, काशी। सन् १८८७।

परिभाषावृत्ति (पुरुषोत्तम देव)—वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगाल।

परिभाषासंग्रह—सं०—काशीनाथ अभ्यङ्कर। मुद्रणस्थान—पूना।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह—सिंधी ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन, सं० १९९२।

पुरुषकार—(द्र०—दैवम्)

पूना-प्रवचन—(उपदेश-मंजरी) प्रकाशक—रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरयाणा।

प्रक्रिया कौमुदी—दो भागों में, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना।
प्रक्रिया सर्वस्व (उणादिप्रकरण)—द्र०—उणादिवृत्ति, नारायण भट्ट।
प्रक्रिया सर्वस्व (तद्धित प्रकरण)—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।
प्रबन्ध कोश—(राजशेखर सूरि)—सिंघो जैन ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन, सं० १९९१।
प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्गाचार्य)—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन, सं० १९८९।
प्रौढ मनोरमा (भट्टोजि दीक्षित)—दो भागों में। विद्याविलास प्रेस, बनारस, सन् १९०७।
बृहत्त्रयी—(गुरुपद हालदार) हालदार पाड़ा रोड़ कालीघाट, कलकत्ता।
बृहद् विमान शास्त्र—सम्पादक–स्वामी ब्रह्ममुनि। प्रकाशक—आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा, देहली।
बौधायन गृह्यशेषसूत्र—द्र०–बौधायन गृह्यसूत्र। मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, सन् १९२०।
भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—पं०—भगवद्दत्त। प्रकाशक–इतिहास प्रकाशन मण्डल, १।२८ पंजाबी बाग, देहली—२६।
भाषावृत्ति (पुरुषोत्तमदेव)—वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बङ्गाल।
भागवृत्ति संकलन—सं० युधिष्ठिर मीमांसक। भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर।
भास नाटक चक्र—प्रकाशक—ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना।
महाभाष्य—(अ. १-२) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
महाभाष्य—(अ. ३-८)–सं०—गुरुप्रसाद शास्त्री, काशी।
माधवीय धातुवृत्ति (द्र०—धातुवृत्ति, सायण)।
मीमांसा भाष्य (शबर स्वामी) तन्त्र वार्तिक टुप् टीका सहित, पूना संस्करण।
यज्ञफलनाटक–सम्पादक–जीवाराम कालिदास वैद्य। रसशाला आश्रम, गोंडल (काठियावाड़)।
रूपावतार–धर्मकीर्ति। दो भागों में मुद्रित। बंगलोर प्रेस, मैसूर रोड, बंगलोर।

लिङ्गानुशासन—(हर्षवर्धन) मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास ।

लौगाक्षि गृह्यभाष्य (देवपाल)—दो भाग । कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, कश्मीर ।

वाक्यपदीय—(ब्रह्मकाण्ड) सम्पा०—पं० चारुदेव शास्त्री । रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर ।

वाक्यपदीय—(पुण्यराज टीका)—वाराणसी ।

वाक्यपदीय—(हेलाराजीय टीका)—वाराणसी तथा दक्खन कालेज, पूना ।

वाक्यपदीय (वृषभदेव टीका)—प्रथमकाण्ड । सम्पादक—चारुदेव शास्त्री । प्रकाशक—रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर, सं० १९८१ ।

वाजसनेय प्रातिशाख्य—उव्वट तथा अनन्त भाष्य सहित । मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास ।

वामनीय लिङ्गानुशासन—प्रकाशक—भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर ।

वेदार्थदीपिका—ऋक्सर्वानुक्रमणी टीका । षड्गुरु शिष्य—सम्पादक—मैकडानल, आक्सफोर्ड ।

वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा । द्वितीय आवृत्ति, संवत् १९९६ ।

व्याकरण दर्शनेर इतिहास—(गुरुपद हालदार)—हालदार पाड़ा रोड़, कालीघाट, कलकत्ता ।

शब्दशक्ति प्रकाशिका—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस ।

संस्कार रत्नमाला—प्रकाशक—आनन्दाश्रम, पूना ।

संस्कृत कवि चर्चा—बलदेव उपाध्याय । प्रकाशक—मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड संस, बनारस ,सन् १९३२ ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास—(कीथ) हिन्दी अनुवाद, डा० मङ्गलदेव शास्त्री । प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, देहली ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार । रामविलास पोद्दार ग्रन्थमाला, नवलगढ़ । न्यू राजस्थान प्रेस, कलकत्ता ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास (वाचस्पति गौरेला) चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस ।

संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—लेखक—सीताराम जयराम जोशी, बनारस ।

सांख्य दर्शन का इतिहास—उदयवीर शास्त्री । विरजानन्द शोध संस्थान, गाजियाबाद ।

सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर—डा० वेल्वाल्कर, ओरियण्टल बुक एजेंसी, शुक्रवारपेठ पूना, सन् १६१५ ।

हर्षवर्धन लिङ्गानुशासन—प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास ।

हिन्दुत्व—(रामदास गौड़)—ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी, सं० १६६५ ।

हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (कृष्णमाचार्य) ।

ह्यूनसाङ्ग—वाट्र्स का अंग्रेजी अनुवाद ।

ह्यूनसांग का भारत भ्रमण—अनु०—ठाकुरप्रसाद शर्मा, इण्डियन प्रेस, प्रयाग ।

⚜

रामलाल कपूर ट्रस्ट की

आर्यसमाज-शताब्दी के उपलक्ष्य में

विशेष साहित्य-प्रकाशन-योजना

आर्यसमाज को स्थापित हुए सन् १९७५ में १०० वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण अवसर की सफलता के लिये **रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़** जिला-सोनीपत (हरयाणा) ने अपने सहयोगियों के सहयोग से ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के विशिष्ट **सुन्दर शुद्ध सटिप्पण** एवं विविध प्रकार के **परिशिष्टों** से युक्त सजिल्द संस्करण प्रकाशित करने की दो योजनायें बनाई हैं। इन योजनाओं के अनुसार कार्य आरम्भ हो गया है। इन योजनाओं में ऋषि दयानन्द के व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थों को छोड़कर शेष सभी ग्रन्थ छपेंगे। **प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में उस ग्रन्थ से सम्बद्ध विशेष परिशिष्टों के साथ निम्न परिशिष्ट होंगे—**

१—ग्रन्थ की विस्तृत विषय सूची।
२—ग्रन्थ में उद्धृत प्रमाणों की सूची।
३—टिप्पणी में उद्धृत प्रमाणों की सूची।
४—ग्रन्थ में उद्धृत ग्रन्थों की सूची।
५—टिप्पणी में उद्धृत ग्रन्थों की सूची।
६—ग्रन्थ में उद्धृत व्यक्ति वा स्थानादि के नामों की सूची।
७—टिप्पणी में उद्धृत व्यक्ति वा स्थानादि के नाम की सूची।

इनके अतिरिक्त प्रत्येक ग्रन्थ में अपने-अपने विषय के २—३ विशिष्ट परिशिष्ट और रहेंगे।

प्रथम योजना के अन्तर्गत निम्न ग्रन्थ रहेंगे—

१—यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषि दयानन्द कृत यजुर्वेदभाष्य पर स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत विवरण १८ अध्याय तक। शेष १९—४० तक पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत टिप्पणियां होंगी। विवरण और टिप्पणियां संस्कृत भाग पर संस्कृत में तथा हिन्दी भाग पर हिन्दी में। यह ग्रन्थ २२×३० अठ-पेजी आकार में ५ भागों में पूर्ण होगा। प्रथम भाग का द्वि० सं० समाप्त हो गया है यह पुनः छपेगा। दूसरा भाग छपकर तैयार है। आगे कार्य हो रहा है।

निम्न ग्रन्थ १८×२३ अठपेजी आकार में होंगे—

२—**सत्यार्थ प्रकाश**—२५०० टिप्पणियों तथा ११ परिशिष्टों सहित ११०० पृष्ठों में तैयार 12-00

३—**ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका**—सटिप्पण, ८०० पृष्ठों में 12-00

४—**संस्कारविधि**—सटिप्पण, ४५० पृष्ठों में 6-00

५—**अन्य २० लघु ग्रन्थ**—एक जिल्द में, ७०० पृष्ठों में 10-00

६—**यजुर्वेदभाष्य**—५ भागों में 100-00

कुलयोग———

140-00

सत्यार्थप्रकाश छपकर तैयार है। संस्कारविधि दिसम्बर ७३ तक छपकर तैयार हो जायेगी। लघुग्रन्थसंग्रह पर कार्य हो रहा है।

द्वितीय योजना में—

ऋग्वेदभाष्य—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकासहित (जहां तक ऋषि दयानन्द का भाष्य है) २०×३० अठपेजी आकार में ९ भागों में पूरा होगा। प्रत्येक भाग में लगभग ८०० पृष्ठ होंगे। इस ग्रन्थ के भी संस्कृत-भाग पर संस्कृत में, तथा हिन्दीभाग पर हिन्दी में पं० युधिष्ठिर मीमांसक की महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां तथा विविध प्रकार के परिशिष्ट होंगे। प्रत्येक भाग का मूल्य २५ रु०। पूरे ९ भागों का २२५ रु० होगा।

स्थायी ग्राहकों को रियायत—

प्रथम योजना के स्थायी ग्राहकों को अगाऊ रुपया देने पर १४० रु० के स्थान में १०५ रु० में सभी ग्रन्थ दिये जायेंगे। **डाक व्यय पृथक् होगा।**

द्वितीय योजना—(ऋग्वेदभाष्य) के स्थायी ग्राहकों को अगाऊ रुपया देने पर पूरा ऋग्वेदभाष्य २२५ रु० के स्थान में १७० रुपये में दिया जायेगा। **डाक व्यय पृथक् होगा।**

ऋग्वेदभाष्य **प्रथम भाग छप चुका है।** दूसरा भाग नवम्बर ७३ तक तैयार हो जायेगा।

विशेष—जो ग्राहक अगाऊ रुपया न देकर प्रत्येक ग्रन्थ छपने पर तत्काल लेते रहेंगे, उन्हें १० रुपये सदस्यता शुल्क देने पर विशेष रियायत मिल सकती है। प्रबन्धकर्त्ता—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला सोनीपत (हरयाणा)

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

१. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग)**—इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द प्रणीत यजुर्वेदभाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर ऋषिभक्त वेदमर्मज्ञ स्वर्गीय श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। मूल वेदभाष्य को ऋषि के हस्तलेखों से मिलान करके छापा गया है। विस्तृत भूमिका तथा टिप्पणियों से युक्त। **अप्राप्य**

यजुर्वेदभाष्य-विवरण (द्वितीय भाग)— मूल्य १६-००

२. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**—लेखक महर्षि दयानन्द सरस्वती। पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित। मोटे टाइप, बड़े आकार में सुन्दर शुद्ध और सटिप्पण संस्करण। मूल्य १२-००

भूमिका पर किये गये **आक्षेपों के उत्तर** मूल्य १-५०

३. **ऋग्वेदभाष्य**—महर्षि दयानन्द कृत (संस्कृत-हिन्दी)। सम्पा० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। विविध टिप्पणियों सहित। सुन्दर शुद्ध संस्करण। भाग १—मू० २५-००। भाग २—मू० २५-००।

४. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। संशोधित परिवर्धित द्वितीय संस्करण। वैदिक-स्वर-विषयक सर्वश्रेष्ठ विवेचनात्मक ग्रन्थ। उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। मू० ५-००

५. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—संस्कृत-हिन्दी। ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इसमें ऋग्वेद की ऋचाओं की शुद्ध संख्या दर्शाई है, और अशुद्ध ऋक्संख्या की आलोचना की गई है। मू० १-००

६. **वेद-संज्ञा-मीमांसा**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० ०-७५

७. **देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का स्वरूप**—लेखक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मू० ०-७५

८. **वेद और निरुक्त**—लेखक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य ०-७५

९. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**—लेखक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य ०-७५

१०. **त्वाष्ट्री-सरण्यू आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—ले० पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य। मू० ०-७५

११. **वेद में आर्य-दास युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्यमत का खण्डन**—लेखक पं० रामगोपाल शास्त्री वैद्य। मूल्य ०-७५

१२. **वेद में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य ३-७०, अजिल्द २-००

१३. **सत्यार्थप्रकाश**—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आधृत, अन्यत्र मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित, ढाई हजार के लगभग टिप्पणियों से युक्त साधारण संस्करण।

मू० सजिल्द ६-००, अजिल्द ५-००

१४. **सत्यार्थ-प्रकाश (आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण)**—११ विविध परिशिष्टों वा सूचियों के सहित, सुन्दर पक्की जिल्द १२-००

१५. **संस्कारविधि**—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आधृत, अजमेर मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित, विविध टिप्पणियों से युक्त। मू० २-२५, सजिल्द ३-००

१६. संस्कारविधि **(आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण)**—अनेक परिशिष्टों वा सूचियों के सहित। सुन्दर पक्की जिल्द। मूल्य ६-००

१७. **संस्कार-समुच्चय**—लेखक पं० मदनमोहन विद्यासागर। संस्कारविधि की व्याख्या तथा परिशिष्ट में अनेक समयोपयोगी कर्मों का संग्रह। मूल्य सजिल्द १२-००

१८. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रातः से शयनपर्यन्त समस्त नैत्यिक कर्म, पञ्चमहायज्ञ, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, और बृहद्यज्ञ के मन्त्रों के विस्तृत सरल शब्दार्थ भावार्थ सहित। प्रार्थना के मन्त्र पद्य एवं भजनों से युक्त। मू० १-५०

१९. **पंचमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्द सरस्वती। मू० ०-३५

२०. **हवनमन्त्र**—ऋषि दयानन्द सरस्वती। मू० ०-२०

२१. **सन्ध्योपासनविधि**— ,, भाषार्थ सहित मू० ०-२०

२२. **सन्ध्योपासनविधि—दैनिक हवन-मन्त्र सहित** मू० ०-२५

२३. **वर्णोच्चारणशिक्षा**—ऋषि दयानन्दकृत पाणिनीय शिक्षा सूत्रों की हिन्दी व्याख्या सहित। मूल्य ०-२५

२४. **निरुक्त-शास्त्र**—पं० भगवद्दत्त कृत नैरुक्त-प्रक्रियानुसारी हिन्दीभाष्य सहित। मू० २०-०

२५. **निरुक्तसमुच्चयः**—आचार्य वररुचिकृत नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। संपा० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० ५-००

२६. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः**—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा परिशोधित संस्करण। मूल्य १-१५

२७. **धातुपाठः** – अकारादि क्रम से धातुसूची सहित। मू० १-००

२८. **संस्कृत-धातुकोषः**—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। अकारादि क्रम से पाणिनीय अर्थ सहित धातुओं के हिन्दी में विविध अर्थ, तथा उपसर्ग योग से प्रयुज्यमान विविध अर्थ सहित। मू० ३-००

२९. **अष्टाध्यायी भाष्य** (प्रथमावृत्ति)—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति समास अनुवृत्ति, वृत्ति उदाहरण, उदाहरण-सिद्धि सहित, संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में। मूल्य—**प्रथम भाग–१५-००, द्वितीय भाग–१२-५०, तृतीय–१२-५०**

३०. **महाभाष्य**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत हिन्दी-व्याख्या-सहित। भाग २। मूल्य सजिल्द २०-००

३१. **संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। इस ग्रन्थ के द्वारा विना रटे संस्कृत भाषा और पाणिनीय व्याकरण का बोध कराया गया है। प्रथम भाग मू० ५-००

द्वितीय भाग—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग के निर्देशों के अनुसार। मूल्य ५-५०

३२. **काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्** – चन्नवीर कविकृत कन्नड़-टीका का पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत-रूपान्तर। मू० ६-२५

३३. **काशकृत्स्न-व्याकरणम्**—सं० पं० युधिष्ठिर मीमासक। पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न व्याकरण के उपलब्ध १४० सूत्रों की व्याख्या तथा इतिहास (संस्कृत में) मूल्य ३-००

३४. **शब्दरूपावली**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ के द्वारा शब्दों के रूप विना रटे समझपूर्वक बड़ी सुगमता से स्मरण हो जाते हैं। मू० ०-७५

३५. **संस्कृतवाक्यप्रबोध**—स्वामी दयानन्द कृत इस ग्रन्थ पर पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा 'अबोध-निवारण' ग्रन्थ के रूप में किये गये आक्षेपों का पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उत्तर दिया गया है। सम्पादक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० १-२५

संस्कृत-वाक्य-प्रबोध—मूलमात्र। मू० ०·६०

३६. **अनासक्ति-योग—मोक्ष की पगदण्डी**—ले० पं० जगन्नाथ पथिक। नाम के अनुरूप योगविषयक अत्युत्तम ग्रन्थ। मू० १०-००

३७. Aryabhivinaya (English Translation and Notes by Swami Bhumanand Saraswati M. A.)

मूल्य ३-००, सजिल्द ४-००

३८. **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)**—लेखक पं० सत्यदेव वासिष्ठ। विष्णुसहस्रनाम की आध्यात्मिक व्याख्या संस्कृत तथा हिन्दी में चार भागों में। प्रत्येक भाग का मूल्य १२-५०

३९. **वाल्मीकि-रामायण**—हिन्दी-अनुवाद सहित। अनुवादक तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द झरिया। बालकाण्ड मू० ३-०० अयोध्याकाण्ड मू० ५-००। अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड मू० ६-००। सुन्दरकाण्ड मू० ३-५०। युद्धकाण्ड १०-५०।

४०. **विदुरनीति**—नीतिविषयक प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ। पदार्थ तथा विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ४०० पृष्ठ, सुन्दर छपाई। अल्प मूल्य केवल ४-५०

४१. **सत्याग्रहनीति-काव्य**—श्री पं० सत्यदेव शर्मा वासिष्ठ। भाषानुवाद सहित। नया सुन्दर संस्करण। मू० ५-००

४२. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ग्रन्थ में आज तक के प्रमुख वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों का इतिहास दिया गया है। **परिवर्धित नया संस्करण।** मूल्य—प्रथम भाग २५-००, दूसरा २०-००, तीसरा १५-००।

४३. **ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित।** मू० ०-५०

४४. **ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की सस्कृत साहित्य को देन**—लेखक प्रो० भवानीलाल भारतीय। सजिल्द मू० ८-००

४५. **पूना-प्रवचन (उपदेश-मञ्जरी)**—ऋषि दयानन्द सरस्वती के १५ व्याख्यान। मू० २-५०

४६. **विरजानन्द-प्रकाश**—ले० श्री भीमसेन शास्त्री एम० ए०। श्री स्वामी विरजानन्द जी का अनुसन्धानपूर्ण प्रामाणिक जीवन चरित्र। नया सस्ता संस्करण। मू० २-००

४७. **व्यवहारभानु**—ले० ऋषि दयानन्द सरस्वती। मू० ०-३५

४८. **आर्योद्देश्यरत्नमाला**— ,, ,, मू० ०-१५

४९. **भागवत खण्डनम्**— ,, ,, मू० ०-५०

वेदवाणी—वेदविषयक उच्चकोटि की २५ वर्ष पुरानी मासिक पत्रिका। सं०—यु० मी० वार्षिक चन्दा ७-००, विदेश में ११-००

पुस्तक मिलने का पता—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ जिला—सोनीपत (हरयाणा)